७—वंशानुचरित, अर्थात् राजवंशियों का चरित।

८—संस्था अर्थात् नित्य, नैमित्तिक प्राकृतिक, आत्यन्तिक विश्व के चार प्रकार के प्रलय।

९—हेतु, अर्थात् अज्ञानता के कारण कर्मवश जीव किस प्रकार संसार का हेतु होते हैं।

१० अपाश्रय—अर्थात् सब अवस्था में जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध।

पुराण-कर्त्ताओं ने अपने ग्रन्थ की पहचान के लिये इन लक्षणों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया था, जिससे अन्य लोग उनमें प्रक्षिप्त विषयों का समावेश न कर पावे, किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि परिवर्त्ती काल के लोगों ने पुराणों की विशुद्धता को नष्ट करने में तिल भर भी सङ्कोच न किया और अपनी कुत्सित अभिरुचि के अनुसार निज कल्पना प्रसूत विषयों को ऐसे ढङ्ग से मूल रचना में मिलाया कि अब उनका पहचानना भी कठिन है। पुराणों में प्रक्षिप्त विषयों की भरमार के साथ ही साथ कई एक पुराणों के खण्ड लुप्तप्राय हैं और यही कारण है कि अब भी मूल ग्रन्थों के नाम से कल्पित ग्रन्थ प्रचारित किये जा रहे हैं। अस्तु,

इस पुस्तकमाला की तीसरी पुस्तक के ग्रन्थ परिचय में हम लिख चुके हैं कि गिनती में पुराण अठारह हैं। उनके नाम हैं—

१ विष्णु	१ मत्स्य	१ ब्रह्माण्ड
२ नारदीय	२ कूर्म	२ ब्रह्मवैवर्त्त
३ भागवत	३ लिङ्ग	३ मार्कण्डेय

४	गरुड	४	शिव	४	भविष्य
५	पद्म	५	स्कन्द	५	वामन
६	वाराह	६	अग्नि	६	ब्रह्म ।

अष्टादश पुराणों की छः छः की तीन श्रेणियां हैं। जैसी कि वे ऊपर विभाजित की गयी हैं। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में दिये हुए प्रमाणानुसार ऊपर दी हुई प्रथम श्रेणी के छः पुराण सात्विक अथवा वैष्णव पुराण हैं, दूसरी श्रेणी के छः पुराण तामस अथवा शैव पुराण हैं, इसी प्रकार अन्तिम श्रेणी के छः पुराण राजस अथवा शाक्त पुराण हैं।

"मात्स्य कौर्म तथा लैङ्ग शैवस्कान्द तथैवच ।
आग्नेय च षडेतानि तामसानि निबोधत ॥१॥
वैष्णव नारदीय च तथा भागवत शुभ ।
गारुडच तथा पाद्म वाराह शुभ दर्शने ॥२॥
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानिवै ।
ब्रह्माण्ड ब्रह्मवैवर्त्त मार्कण्डेय तथैव च ॥३॥
भविष्य वामन ब्राह्म राजसानि निबोधत ।"

यद्यपि आजकल के कतिपय लोगों का यह मत है कि अष्टादश पुराणो का कर्त्ता एक ही व्यक्ति नहीं है, तथापि इन ग्रन्थों के कर्त्ता के विषय में यही कहा जाता है 'अष्टादश पुराणानाम् कर्त्ता सत्यवती सुत ।

अर्थात् अष्टादश पुराणों के बनाने वाले सत्यवती के पुत्र भगवान् व्यास देव ही हैं और यह प्राचीन मत इस लिये और भी पुष्ट होता है कि यदि ये अठारह पुराण एक ही व्यक्ति की अभिनव प्रतिभा के फल न होते, तो अष्टादश पुराणों की उल्लिखित तीन श्रेणियाँ न होतीं। क्योंकि जो ग्रन्थकार ग्रन्थ बनाता है वह अपने ग्रन्थों का कुछ न कुछ क्रम अवश्य ही

रखता है। व्यासदेव ने त्रिगुणात्मिका सृष्टि के लिये तीन गुण विशिष्ट छः पुराणों की रचना की और इस बात को उन्होंने पद्मपुराण में स्वयं खोल भी दिया।

अब एक यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि व्यासदेव ने तामस पुराणों की रचना क्यों की? क्योंकि तीन गुणों में सात्विक सर्वश्रेष्ठ, राजस मध्यम और तामस निकृष्ट माना जाता है। गीता में लिखा है:—

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था, मध्येतिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था, अधो गच्छन्ति तामसाः॥

यह तो हम कह ही आये हैं कि पुराण शिक्षाप्रद ग्रन्थ हैं। शिक्षा भी पात्रानुसार ही दी जाती है। यदि तामस प्रकृति-विशिष्ट पुरुष को ढङ्ग पर लाना है, तो हमें तामस प्रकृति-विशिष्ट उदाहरण देकर उसे सुमार्ग पर लाने में सुविधा है। अतः तामस और राजस प्रकृति विशिष्ट पुरुषों के लिये वेदव्यास ने पुराणों की तीन श्रेणियाँ की। उन्होंने यद्यपि अपने बनाये अष्टादश पुराणों को समान गौरव की दृष्टि से देखा, तथापि अच्छे के साथ निकृष्ट, प्रकाश के साथ अन्धकार और ऊँच के साथ नीच का होना यह प्राकृतिक नियम है। इसी नियमानुसार कहा जाता है कि:—

"वेदेषु पौरुष सूक्त धर्मशास्त्रेषु मानवम्।
भारते भगवद्गीता, पुराणेषु च वैष्णवम्॥"

अर्थात् जिस प्रकार वेद में पुरुषसूक्त, धर्मशास्त्रों में मानव-महाभारत में भगवद्गीता है, वैसे ही पुराणों में वैष्णव-त्वक पुराण शीर्षस्थानीय हैं।

लोगों का कहना है कि पुराणों की रचना और उनकी भाषा आदि देखने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि अष्टादश पुराण के निर्माता अकेले वेदव्यास ही नही है । भाषातत्व और साहित्यतत्व के विद्वान् इस युक्ति की पुष्टि मे श्रीमद्भागवत का नाम लेते हैं । वे कहते हैं कि यदि भागवत की रचना और मार्कण्डेय पुराण की रचना मिलाई जाय तो इन दोनो मे कौड़ी मोहर का अन्तर जान पडता है। वास्तव में उन लोगो का यह कहना भ्रमपूर्ण नही है। दोनो ग्रन्थो की रचना में पृथिवी आकाश का अन्तर अवश्य है, पर विचारना यह है कि दोनों ग्रन्थ किस परिस्थिति में रचे गये। श्रीमद्भागवत् व्यास देव प्रणीत है और व्यासदेव की सब से पिछली रचना है। यह बात हम श्रीमद्भागवत सग्रह" के ग्रन्थपरिचय में दिखला चुके हैं। अब विचार यह करना है कि पुराणो की रचनाओ मे इतना अन्तर क्यो है। इसका कारण यह हे कि जो पुराण हमे अब उपलब्ध हो रहे है, वे वेही पुराण नही है, जो वेदव्यास ने रचे थे। इसमे सन्देह नही कि अष्टादश पुराणों की नींव वेदव्यास ही ने डाली, किन्तु परम्परागत उनकी रक्षा भिन्न भिन्न लोगो के हस्तगत रहने से, पुराणो का पूर्वरूप वहुत कुछ वदल गया। वेदव्यास ने अमुक पुराण अपने अमुक शिष्य को सुनाया, अमुक ने अमुक को फिर उसने अमुक को, फिर उसने अमुक को सुनाया इस प्रकार वेदव्यास की रचना हम लोगों को अनेक लोगों के द्वारा अब प्राप्त हुई है। यह बात भी प्रसिद्ध ही है कि प्राचीन समय में पुराण मुख द्वारा ही सुनाये जाते थे, पोथियॉ न थी। प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि यदि एक मनुष्य कोई साधारण बात दूसरे मनुष्य से कहता है, तो पहले पुरुष की कही हुई बात में कुछ न कुछ अन्तर आ ही जाता है, फिर वही बात यदि

दस मनुष्यों द्वारा कही जाय, तो सम्भव है उसका रूपान्तर ही हो जाय। इसी प्रकार अनेक वक्ताओं के द्वारा कहे हुए पुराणों में रचना भेद हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु घटनाओं में भी तारतम्य हो जाने की सम्भावना है।

पुराणों के विषय में दूसरी बात यह कही जाती है कि उनमें अलीक घटनाओं का समावेश पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि पुराणों में ऐसी अनेक कथाएं है, जिनकी सत्यता मनुष्यों की परिमित बुद्धि में तब तक नहीं समा सकती, जब तक वे कम से कम आद्यन्त एक बृहद् पुराण को न पढ़ ले और कथाओं के पूर्वापर प्रसङ्ग को न समझले। पुराण में कथा तो देवताओं की है, जो सूक्ष्म शरीरधारी है और उसके रहस्य को समझना चाहते हैं स्थूलशरीरधारी। स्थूलशरीरधारियों को तो उस कथा के रहस्य जानने का तभी अधिकार प्राप्त हो सकता है, जब वे स्वयं सूक्ष्म शरीरधारियों जैसी बुद्धि अपनी करलें। इस पर यह कहा जा सकता है कि तब सूक्ष्म शरीरधारियों की कथाओं से स्थूल शरीरधारियों का प्रयोजन ही क्या है? नहीं प्रयोजन है। हम लोगों को उनकी कथाओं का सार लेकर लाभ उठाना चाहिये। घटनाओं की सत्यासत्य-विवेचना में पड, उनके सारांश को हेय दृष्टि से न देखना चाहिये। देवताओं की अथवा बड़े लोगों की कथाओं में जहाँ कोई हीन चरित्र दीख पडे वहाँ पुराणनिर्माता को न अकोस कर, यह विचारना चाहिये कि यह कथा क्यों लिखी गई है। ब्रह्मा एवं सरस्वती की कथा लिखने की पुराणकर्त्ता को क्या आवश्यकता थी? यद्यपि इस कथा का आध्यात्मिक रहस्य कुछ और ही है, तथापि उसे पढ कर समझना चाहिये कि यह कथा पुराणकर्त्ता ने यह दिखलाने लिखी है कि ऐश्वर्यवान हो, चाहे साधारण श्रेणी का

पुरुष हो, चाहे देवदेव सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा हो, चाहे साधारण श्रेणी का देवता हो, बुरे काम का फल सभी को भोगना पड़ता है और उसका महत्व घट जाता है। ब्रह्मा ने जब ऐसा कृत्य किया तब फल क्या हुआ? उनके सारे अधिकार छीन लिये गये। यही कारण है कि भारतवर्ष मे भगवान् विष्णु और भूतनाथ महादेव का आराधन तो सर्वत्र होता है, ब्रह्मा का पूजन कोई भी नहीं करता। तिस पर भी सब से बढ़ कर महत्व का कार्य ब्रह्मा ही के हाथ में है। इसीसे भगवान् वैशम्पायन ने जन्मेजय के प्रति उपदेश दिया थाः—

"क्षीना भारती भाति सरगा गहनान्तरा।
धीरास्तत्तत्वमृच्छन्ति मुह्यन्ति प्राकृता जनाः॥"

पुराणो के विषय में इतना लिख चुकने पर, अब हम इस पुस्तक के क्रम के विषय में कुछ लिखना आवश्यक समझते हैं। यह बात सर्वमान्य है कि वालक हों अथवा युवा, उपाख्यान, आख्यान, आख्यायिका आदि के पढ़ने में जितना मन लोगों का लगता है, उतना शुष्क उपदेश के पढ़ने में नहीं लगता, किन्तु ऐसी शुष्क उपदेशमय पुस्तक के पढ़ने से लोगों का मन ऊब उठता है। वेद की आज्ञा है, "सत्यंवद" सत्य बोलो। वालक से केवल यदि यह कह दिया जाय कि वेद की आज्ञा है सत्य बोलो, तो उसके मन पर इसका उतना प्रभाव न पडेगा जितना सत्य बोलने की महिमा दिखलाते हुए महाराज हरिश्चन्द्र के उपाख्यान को सुनाने से पड़ सकता है। इसीलिये उपाख्यानों की वाहुल्यता पुराणो में भी है। हमने इसीलिये कतिपय पुराणों से शिक्षाप्रद उपाख्यान संगृहीत करके यह पुस्तक वनायी है। प्रत्येक उपाख्यान के अन्त में उपाख्यान से 'शिक्षा" क्या मिल सकती है—संक्षिप्त रूप से दिखला

दिया है । उपाख्यान केवल श्लोकों का अनुवाद नहीं हैं। हमने उपाख्यानों को रोचक बनाने के लिये अपनी भाषा एवं शैली में उन्हें ढाल लिया है, पर घटना की मूलकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की ओर पूरा ध्यान रखा है । हमारा उद्देश्य उपाख्यानों को शिक्षाप्रद बनाना है। इसीसे हमने इन उपाख्यानों को स्वतंत्ररीत्या लिखा है । यद्यपि प्रह्लाद, ध्रुव, हरिश्चन्द्र आदि के उपाख्यान हम संक्षिप्त-विष्णु-पुराण, श्रीमद्भागवत्-संग्रह में लिख चुके हैं, तथापि "पौराणिक उपाख्यानों" के संग्रह की पुस्तक में ऐसे उत्तम एवं शिक्षाप्रद उपाख्यानों को छोड़ देना हमने उचित नहीं समझा, अतः उन्हें भी इसमें संगृहीत किया है । यह कहना तो बडी धृष्टता है कि हमारे इस सग्रह में अष्टादश पुराणों के सभी उपाख्यान आगये है, तथापि इतना हम अवश्य कह सकते है कि इस पुस्तक में यथा-सम्भव कई एक पुराणों से शिक्षाप्रद उपाख्यान संगृहीत किये गये हैं।

मनुष्य से, विशेष कर हम जैसे अल्पज्ञ मनुष्यों से, भूलचूक होना साधारण बात है । अतः यदि इस पुस्तक में कहीं कोई भूलचूक रह गई हो, तो विशेषज्ञ पाठक हमें उससे अवगत करने की कृपा करें।

दारागञ्ज
१२।१२।१२ — चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्म्मा ।

पौराणिक-उपाख्यान।

१—दयालु मिथिलेश का उपाख्यान।

[सहृदयता का उदाहरण]

"यज्ञदानतपांसीह परत्र च न भूतये।
भवन्ति तस्य यस्यार्त्त-परित्राणे न मानसम्॥१॥
नरस्य यस्य कठिनं मनोबालातुरादिषु।
वृद्धेषु च न तं मन्ये मानुषं, राक्षसो हि सः" ॥२॥

कैसा भयानक स्थान है! कहीं लार, पीप एवं लोहू का कुण्ड है कहीं आँतों का ढेर है, किसी के अङ्ग कट रहे हैं, कोई जलाया जारहा है। दुखिया जीवों के सिवाय और जितने दिखाई देते हैं उन सब के नेत्र लाल, मानो साक्षात् क्रोध की प्रतिमूर्त्ति हैं। दया का नाम तक नहीं। सब के शरीर उग्र और आकार भयङ्कर हैं। किसी के हाथ में खड्ग है और किसी के हाथ में लोहदण्ड है मारने काटने रोने चिल्लाने

के सिवाय और कोई शब्द ही यहाँ श्रवण नहीं होता। गरम गरम लू बदन को भूने डालती है और ऊँचे ऊँचे असिपर्ण वृक्षों के पत्ते शस्त्र का काम कर रहे हैं।

देखते ही देखते क्षण मात्र में अकस्मात् हवा बदल गई। ठण्डी ठण्डी पवन चलने लगी। यंत्रणा न्यून हुई, हाहाकार बन्द हुआ। शस्त्र सञ्चालकों के हाथ रुक गये। इस अकस्मात् परिवर्त्तन का कारण जानने के लिये, सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। इतने में अचानक दो दिव्य पुरुष दिखलाई दिये, जिनकी चाल ढाल वेश विन्यास से विदित होता था कि उनमें से एक तो कोई महाराज हैं और उनके साथ दूसरा कोई देवदूत है, दूत महराज से "इतएहि" (इधर पधारिये) कहता और मार्ग दिखलाता आगे २ चला आरहा है।

इधर उधर आश्चर्य की दृष्टि से देखकर महाराज ने चकित होकर पूँछा—"हैं यह, क्या?—देवदूत! तुम हमें कहाँ ले आये?"

बड़े गाम्भीर्य से देवदूत ने उत्तर दिया—"महाराज नरक में"।

सिर पर मानो वज्रपात हुआ। दूत के उत्तर से उत्तेजित हो महाराज ने कहा—"ओह! मिथिलेश को नरक! जिसका विदेह वंश में जन्म हुआ, उसको नरक!! जिसने अनेक यज्ञ किये, दान दिये और धर्म पूर्वक प्रजा का पालन किया, उसको नरक!!! संग्राम के समय शत्रुओं ने और दान के समय अर्थियों ने जिसकी कभी पीठ नहीं देखी उसको भी नरक!!!!"

महाराज, उसको भी नरक! विनय पूर्वक निडर दूत ने [illegible] किया।

महाराज—तो शास्त्र सब मिथ्या हैं,—नहीं नहीं, यह कब हो सकता है! दूत! कुछ समझ में नहीं आता क्या रहस्य है?

धीरज बँधा कर दूत ने कहा:—

देवदूत—राजन्! घबड़ाइये नहीं। आप प्रथम अपने नरक में आने का कारण समझ लीजिये—महाराज! आपका कहना यथार्थ है। सचमुच आप धर्मज्ञ और महात्मा हैं, न तो कभी आपके द्वार से पितरो को निराश लौटना पड़ा और न अतिथियो को। देवता भी आपके यज्ञानुष्ठान की बड़ाई करते हैं। प्रजापालक! शत्रुओ का नाम तो आपने पुस्तकों ही में छोड़ा है, किन्तु निर्दोष नाम तो केवल नारायण का है। आपसे भी एक पाप हुआ है।

देवदूत की अन्तिम बात सुन मिथिलेश को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे धैर्य छोड़ कर बोले—"देवदूत। वह पाप कौनसा है?" इसके उत्तर में देवदूत ने कहा —

देवदूत—राजन्! स्वल्प हो वा बहुत हो पाप पुण्य का फल अवश्य भोगना पडता है। जिस प्रकार जल के सींचने से और देश काल आदि साधन सामग्री जुटने पर बीज में आपसे आप अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है, उसी भाँति पाप पुण्य भी समय आने पर अपना फल प्रकट कर देता है। जैसे थोडे पाप का फल, पैर में काँटा चुभना, और अधिक का शिर पीड़ा आदि होना है वैसेही

स्वल्प पुण्य का फल स्वर्गादि का लाभ कहा जा सकता है। जो हो मैं कह चुका हूँ कि आपने भी एक पाप किया है, उसका मैं स्मरण करता हूँ। वह यह है। इसके बाद एक क्षण रुक कर देवदूत फिर कहने लगा:-

देवदूत--आपके दो रानियाँ थी। एक वैदर्भी, दूसरी कैकेयी। कैकेयी अधिक सुन्दरी थी। इसलिये आपका मन उसमें आसक्त रहता था। एक दिन वैदर्भी के ऋतुस्नान करने पर भी आप कैकेयी के प्रेमवश उसके पास न गये। ऋतुस्नान भार्या का ऋतुकाल निष्फल गया। जो पुरुष काम क्रोधादिवश इस शास्त्र विधि का उल्लङ्घन करता है, राजन्! वह पापी भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है। इसी पाप के कारण विदेह-राज को आज नरक का दर्शन करना पडा है। आपके पुण्य निस्सन्देह बहुत है, किन्तु यह एक पाप भी था और इसका प्रायश्चित्त भी इतना ही था।

इतना कह कर दूत ने महाराज से फिर कहा—"यह देखिये महाराज नरक का कैसा भीषण दृश्य है। ये लम्बी २ चोंच वाले द्रोड़ काग उन पापियों का पेट फाड रहे हैं, जिनकी जन्मपत्री मे कृतघ्नता के सिवाय कृतज्ञता का नाम भी नहीं है। इन पामरों ने जिनका सहारा लिया, उसी के सर्वनाश पर कसी। जिसका खाया, उसी की निन्दा की। यह जो तड़प कर कुत्ते की तरह चिल्ला रहा है और जिसका

बायाँ नेत्र निकाला जाचुका है और दहिने के निकालने की तयारी है वह पुरुष है जिसने सब को बुरी दृष्टि से देखा और साथही बुरा भी कहा। वह देखिये, वे लोग कड़ाह में डाल कर ओटे जा रहे हैं। उन लोगों ने अपना धर्म छोड़ कर यथेच्छाचार किया था। ये वे लोग लोहे के तप्त स्तम्भ से बाँधे गये हैं जिन्होने पराई स्त्रियों को आलिङ्गन किया था और यह देखिये जिनकी पुन पुन. जिह्वा निकाली जाती है वे वे पुरुष हैं जिन्होंने अपनी वाचालता से धर्म का सत्यानाश किया है और जो रात दिन सत्य का अपलाप कर और असत्य ही बोला करते थे। हे मिथिलेश्वर ' आपके सन्मुख ये जो रोते हुए दीन पुरुष दिखलाई पडते हैं, ये बडे उग्र पापी हैं। इन्होंने देव देवियों के मन्दिर तोड़ डाले हैं। उधर वे उपदेशक हैं, जिन्होंने धर्म का धन पचा डाला था और अब वे लटकाये गये हैं। उधर वह दुर्गन्धमय कुण्ड, जिसके पास वज्रतुण्ड जीव दिखाई देता है, उनके लिये हैं जिन्होने आशा में पड़कर अनेक प्रकार की हत्याएँ की हैं। कहाँ तक कहें महाराज ' इस समय आप हैं-हीं ऐसी जगह। आपके आसपास सब पापी हैं। चलिये अब निकल चलिये, जितना आपका पाप था, उसका फल मिल चुका।

महाराज ने 'बहुत अच्छा'' कह कर मुँह फेराही था कि "ठहरिये ठहरिये' के शब्द ने उन्हे चारों ओर से चौंका दिया। नारकी जीवों ने पुकार कर कहा—' महाराज ' ठहरिये। थोड़ी देर और ठहर जाइये। आपके पवित्र दर्शन से हृदय में शान्ति और सुख उपजता है। नरक की यातना न्यून होती है।

पुण्यात्मन्! आपके अङ्ग स्पर्श के पवन के लगने से हमारी गात्रज्वाला शान्त होरही है"।

महाराज उसी समय ठहर गये और उनको यह बात जानने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई कि क्यों उनके ठहरने से पापियों को आनन्द मिलता है। देवदूत बोला "राजन्! आपने विधिपूर्वक अनेक अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान किया है। इस कारण आपके पुण्य प्रभाव से नरक की यंत्रणा न्यून होरही है। जिस प्रकार जल की शीतलता से अग्नि का ताप दूर होता है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष के सत्संग से पाप की ताप मिटती है"।

मिथिलेश ने सानन्द कहा— वाह वाह क्या बात है?

> न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत्सुखं प्राप्यते नरैः।
> यदार्तजन्तु निर्वाण-दानोत्थमिति मे मतिः ॥१॥
> यदि मत्सन्निधावेतान् यातना न प्रबाधते।
> ततो भद्र मुखात्राह स्यास्ये स्थाणुरिवाचलः ॥२॥"

मेरी समझ में मनुष्यों को वह सुख स्वर्ग वा ब्रह्मलोक में भी नहीं मिल सकता जो दुःखित जीवों के दुःख दूर करने से उत्पन्न होता है। यदि मेरे सन्निधान से इन पीडित जीवों को पीडा कम होती है तो हे देवदूत! यह लो, मैं खूँटे की तरह यहाँ अचल होता हूँ।

यमदूत "राजन्! चलिये। इनको अपने पापों का फल भोगने दीजिये और आप स्वर्ग में चलकर निज पुण्य का फल भोगिये"।

थिलेश ने व्यग्रता से कहा—बस, बस, देवदूत, हो चुका। कहने सुनने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब तक ये

नारकी जीव दु खित रहेंगे तब तक मैं यहाँ से टहलाने पर भी न टहलूँगा। क्योंकि मेरी सन्निधि से इन्हें सुख मिलता है। उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है जो शरणागत आतुर एवं आर्त्त पुरुष पर चाहे वह बैरियों ही में से क्यों न हो, अनुग्रह नहीं करता है उसके यज्ञ, दान तप इस लोक और परलोक में कल्याण कारक नहीं होते जिसका मन आर्त्त-जनों के परित्राण में नहीं है जिस मनुष्य का मन बाल वृद्ध और आतुर लोगों के विषय में कठोर है, उसको मैं मनुष्य नहीं मानता, कारण कि वह राक्षस है।

इनके पास रहने से भलेही मुझे अग्नि का ताप दुर्गन्ध का दु ख भूख प्यास इत्यादि की यातनाएँ भी क्यों न सहनी पड़े, किन्तु इनकी रक्षा करना मेरा परम धर्म है और इसे मैं स्वर्ग सुख से कहीं अधिक मानता हूं।

> प्राप्स्यन्त्यार्ता यदि सुख बहवो दु खिते मयि।
> किन्नु प्र प्तं मया न स्यात् तस्मात् त्व व्रज मा चिरम्॥

यदि मेरे एक के दुःख पाने से बहुतों को सुख पहुँचे, तो मैंने क्या न पा लिया? मैंने सब कुछ भर पाया। दूत! इस-लिये तू देर मत कर, यहाँ से चलाजा।

यह कह कर, दयालु मिथिलेश वहीं जम कर खड़े होगये। आर्त्त जनों की दशा देख कर उनके नेत्रों में जल भर आया। मिथिलेश ने परोपकार के लिये कुम्भीपाक नरक को ब्रह्मलोक कर माना और नरक की यत्रणा से, उन्हें कुछ भी दु ख न हुआ दु.ख तो यह था कि मैं सुख से खड़ा हूँ और इतने जीव मेरे सामने दु ख भोग रहे हैं। देवदूत जाना ही चाहता था कि इन्द्र और धर्म्म ने आकर वहाँ महाराज को दर्शन दिया।

देवदूत—राजन्! देखिये। आपको लिवा ले जाने के लिये स्वय देवेन्द्र और भगवान् धर्म्म भी आपहुँचे।

मिथिलेश—(देख कर) यह विपश्चिद् विदेह शची नाथ और धर्मदेव को प्रणाम करता है।

देवेन्द्र—कल्याण हो, कल्याण हो।

धर्म—महाराज! विमान तयार है। मै आपको लेने ही के लिये आया हूँ।

इन्द्र—और मेरा भी यही प्रयोजन है।

मिथिलेश—यहाँ इस नरक में सहस्रों जीव महा कष्ट भोग रहे हैं और दुःखित हो त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं। मै इनको छोड़ कर न जाऊँगा।

इन्द्र—इन पापियों का और आपका क्या सम्बन्ध? पापियों को नरक प्राप्ति पाप-कर्म से हुई है और आपको पुण्य-कर्मों के फल से स्वर्ग में जाना है।

मिथिलेश—यदि आप दोनों देवता, मेरे पुण्यों की संख्या जानते हों तो कहिये।

धर्म—महाराज! यत्न करने पर समुद्र के जलविन्दु और आकाश के तारे गिने जा सकते है, किन्तु आप के पुण्यों की संख्या नहीं हो सकती विशेषतः इन लोगों पर दया करने से आपके पुण्यों की और भी अधिक वृद्धि होगई है इस लिये नृपवर्य! आप स्वर्ग में चलें और इन्हें यहीं अपने पापों का फल भोगने दें।

मिथिलेश—कथ स्पृहाँ करिष्यन्ति मा-मम्पर्केषु मानवाः ।
यदि मत्सन्निध वेषामुत्कर्षो नोपजायते ॥१॥
तस्माद् यत् सुकृतं किञ्चिन्ममास्ति त्रिदशाधिप ।
तेन मुच्यन्तु नरकात् पापिनो यतना गताः ॥

देवेन्द्र ! यदि मेरी सन्निधि से इनका कुछ उत्कर्ष न होगा, तो फिर लोगों को मेरे सम्पर्क की इच्छा क्यों होगी ? अतएव मेरा जो कुछ सुकृत है, उसके फल से ये सब दुःखित पापी नरक से छुट जाँय ।

जयजय कार से आकाश गूञ्ज उठा । पुष्पवृष्टि होने लगी । महाराज के पुण्य से नारकी जीवों का स्वर्गवास होगया । वह स्थान जो कुछ देर पहले डरावना जान पड़ता था, एक मनोहर स्थान बन गया ।

शिक्षा ।

पाठक ! इस समय हमारे पौराणिक दल में कितने ऐसे पुरुष हैं । जिनका हृदय आर्त्त परित्राण के लिये व्याकुल हो ? इस समय भारतवर्ष ही में सहस्रों अनाथ, सहस्रों दुःखित प्राण परित्याग करते हैं और ऐसे कितने दयालु हैं जो उनको सहायता पहुँचाना तो एक ओर रहा उनकी एक बार भी चिन्ता करता हो ! इन उपाख्यानो के पढ़ने एवं सुनने का फल यही है कि लोग महाराज मिथिलेश की तरह दीन दुःखियों को दुःखी देख अपने सुख को तिलाञ्जलि दें । धन्य वेही लोग हैं जो दूसरों के लिये अपनी आत्मा को कष्ट देते हैं और दूसरे के दुःख को अपना जैसा दुःख समझते हैं ।

२-शुक्राचार्य और व्यासदेव का उपाख्यान।

[मन की चञ्चलता।]

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति ॥१॥

सूर्योदय होचुका है और तेजस्वी पुरुष के भाग्योदय के समान उसका तेज प्रतिक्षण बढ़ रहा है। निज मित्र के प्रकाश को देख सज्जनों के मन की तरह एक साथ ही सब कमल खिल उठे हैं और मित्र की तेजस्विता को न सहने वाले कलङ्कित प्रेमियों के सदृश कुमुद वन मुरझा गया है अन्धकार में प्रसन्न रहने वाले श्रुति कठोर जीव चुपचाप हो गये हैं और नव प्रकाश को चाहने वाले विहङ्ग कुल का चारों ओर श्रुति मनोहर शब्द होने लगा है।

इस समय दैत्य कुल गुरु भगवान् शुक्राचार्य के आश्रम की शोभा दर्शनीय है। अग्निहोत्र का पवित्र धूम आश्रम के वृक्षों पर मेघमाला के समान छाया हुआ है और ब्रह्मचारियों की वेदध्वनि, मेघध्वनि की गम्भीरता का अनुकरण कर रही है तथा साथ ही साथ मयूरों का तार स्वर भी सुनाई दे रहा है, के नीचे कहीं यज्ञीय पात्र रखे हैं, कहीं पुरोडास सिद्ध रहा है और कहीं गोवत्स तथा मगशावक चौकड़ी भर

रहे हैं। कही पत्र है, कही पुष्प है, कहीं दीप हैं, कही धूप है, कहीं आज्य है कही चरु है और कहीं समिधा का ढेर है, इसी प्रकार जहाँ तहाँ यज्ञीय और पूजन की सामग्री दृष्टिगोचर हो रही है।

एक सुन्दर परिस्कृत स्थान में व्याघ्र चर्म पर भगवान् शुक्राचार्य बैठे हैं। उनके सिर पर जटाजूट है, मस्तक पर विभूति है, हाथ में पुस्तक, कन्धे पर यज्ञीय सूत्र और शरीर पर वल्कल अपूर्व शोभा दे रहा है। सामने भक्तिभाव से विनम्र बृद्धाञ्जलि शिष्यमण्डली उपस्थित है कि दूर से देखने पर यही बोध होता है कि मानो स्वयं कैलासनाथ सनकादिक को उपदेश दे रहे हैं।

आचार्य ने एक बार आँख उठाकर शिष्य मण्डली की ओर देखा जिससे प्रतीत होता था कि उनकी प्रतिभा-प्रेरिता दृष्टि इस बात की परीक्षा कर रही है कि उपस्थित शिष्य समुदाय में कोई ऐसा पुरुष तो नही है जो नियम विरुद्ध अध्ययन करने आया हो। जब सब ब्रह्मचारियों को शौचाचार-परायण और दण्ड कमण्डलु आदि आवश्यक वस्तुओ सहित पाया तो बड़ी प्रसन्नता के साथ उनके अध्यापन मे प्रवृत्त हुए।

शुक्राचार्य—वत्सगण! कल का पाठ अच्छी प्रकार से कण्ठस्थ कर लिया न?

शिष्य गण—(एक साथ) हाँ भगवन्।

शुक्रा०—उसमें कुछ सन्देह तो नही रहा?

शिष्य—आचार्य चरण की कृपा से सन्देह की गन्ध तक नही।

शुक्रा०--साधु वत्स! साधु! अच्छा तो अब आगे का पाठ पढ़ो।

शिष्य--जो आज्ञा।

शुक्रा०—आज हम इस श्लोक की व्याख्यान करगे कि—
"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा"

श्लोक को पढते ही पढते आचार्य अचानक चुप हो गये। अकस्मात् उनका मन सन्देहाकुल हो गया। वे ज्यों ज्यों सोचने लगे, त्यों त्यों सन्देह जड पकडने लगा। कभी वे समझते थे कि श्लोक ठीक है? यह सब उनकी बुद्धि का भ्रम है और कभी अपनी बुद्धि को ठीक समझ बुद्धि को ठीक ठहराते थे। श्रद्धालु धर्म्मात्मा शिष्य चुपचाप आचार्य की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। घडी हुई, दो घडी हुई, इसी प्रकार विचारते विचारते मध्यान्ह का समय निकट आगया। तथापि आचार्य मीमाँसा करने में समर्थ नहीं हुए, अन्त में आचार्य ने शिष्यों से कहाः—

शुक्राचार्य—वत्सजन! इस श्लोक मे मुझे बडा सन्देह है। जान पडता है कि वृद्धावस्था के कारण महर्षि वेद-व्यास के सब विचार शिथिल होगये है, अतएव उनसे यह अशुद्ध रचना बन गई है अस्तु जब तक महर्षि वेद-व्यास अपनी भूल को स्वीकार न करलें तब तक मेरे सन्देह का मूल बना हुआ है और तब तक तुम्हारा धर्म-शास्त्र का पाठ भी बन्द है। अच्छा जाओ इस समय तुम लोग अपना आन्हिक कर्म करो।

सब शिष्य अपने आचार्य की आज्ञा पाकर प्रणाम पूर्वक चले गये और आचार्य महाशय खड़े होकर दूसरे वन में चले गये।

क्या आश्चर्य है! जिधर देखते है उधर ही अद्भुत व्यापार दिखलाई पडता है वृक्ष अतिथिसपर्य्या कर रहे हैं और पक्षी वेदध्वनि कर रहे हैं। कही पर गऊ का बछुडा सिंही का दूध पी रहा है और कहीं पर गऊ निडर होकर सिंह के बच्चे को दूध पिला रही है। कहीं पर नकुल और सर्प सानन्द खेल रहे हैं और किसी स्थान मे बिडालों के साथ मूषक क्रीड़ा कौतुक कर रहे हैं। यह बात भी क्या है? यह सब भगवान् वेदव्यास के तप का प्रभाव है। व्यासाश्रम के जीव जन्तुओ में भय और विरोध का लेश तक नही है। पुण्य-भूमि का पुण्यात्मा जीव सानन्द, सानुराग, जीवन का सुख भोग रहे हैं।

इस समय व्यासाश्रम में आनन्द की तरङ्गें उठ रही हैं। महानुभाव शुक्राचार्य के शुभागमन से सभी आनन्दित हो रहे हैं। महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने अभ्युत्थान और अर्घ्यदानादि से आतिथ्य-सत्कार कर अपने पास आसन दिया और पूछा।

वेदव्यास—आचार्य के आगमन का क्या कोई विशेष कारण है?

शुक्रा०—जी हॉ, एक विशेप कारण ही से इस वार आना हुआ है।

व्यास—सो क्या? कहिये वह कौनसी बात है?

शुक्रा०—और कुछ नही, वह आपका केवल एक स्मृति-वाक्य है?

व्यास—हाँ तो कहिये न, वह कौनसा स्मृति-वाक्य है, जिसके लिये आपको यहाँ तक आने का कष्ट उठाना पड़ा!

शुका०—आपका यह वह वाक्य है जो "मन की चञ्चलता" के विषय में आपने कहा है।

व्यास—(सोचकर) हाँ जाना यही न,—

'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति॥"

शुका०—हाँ हाँ यही। कहिये, इसका तात्पर्य्य क्या है?

व्यास—स्पष्ट है। यही कि माता भगिनी व बेटी के साथ एकान्त में बैठना न चाहिये क्योंकि इन्द्रिय समूह, अर्थात् मन बड़ा प्रबल है, यह विद्वानों को भी विषय की ओर खींच लेता है।

शुका०—हा कष्ट! आप जैसे योगेश्वर का इतना दुर्बल विचार! मन पर इतना अधिक अविश्वास! शिव! शिव!! इन्द्रियाँ चाहें जितनी प्रबल हों, मन कितनाही चञ्चल क्यों न हो, तो भी क्या वह अपनी माता भगिनी व पुत्री की ओर चलायमान होगा? कदापि नहीं, कभी नहीं, तीन कालमें नहीं। हमारे विचार में सगी माँ बहिन की बातें दूर रहीं, अपने किसी मित्र की वा मुँह बोले भाई की, अथवा जिसको एक बार मा बहिन, वा बेटी के नाम से पुकार लिया है, उसकी ओर भी चलायमान नहीं होगा।

व्यास—तो क्या आपके विचार मे यह स्मृति-वाक्य असत्य है ?

शुक्राचार्य—असत्य नही तो अशुद्ध और व्यर्थ अवश्य है। जाना जाता है कि वार्धक्य के कारण आपने ऐसा लिख डाला है।

व्यास—महात्मन् ! नही। ऐसा न कहिये यह हमारा कथन नहीं है। महामहिम महर्षि मनुजी की स्मृति का ज्यों का त्यो अनुवाद है। हमने इसे अत्यावश्यक समझ अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। त्रिकालदर्शी मनु की स्मृति में सन्देह करना आप जैसे महापुरुष को उचित नहीं। वस्तुत मन बड़ाही चञ्चल है।

शुक्रा०—(स्वगत, कुछ दबे तो, अपनी भूल का भार अब मनुजी पर डालते हैं।) चाहे मनुजी की हो, या आपही की हो, यह बुढापे की भूल अवश्य सुधारने योग्य है। मन को ऐसा लॉच्छन लगाना ठीक नहीं।

व्यास—आचार्यवर ! यह तो कैसे कहूँ कि वृद्धावस्था के कारण भगवान् मनुजी की लेखनी बहक गई होगी, किन्तु सम्भव है कि उनकी स्मृति के समझने वा उद्धार करने में हमसे यह भूल होगयी होगी , किन्तु आप इस विषय पर एक बार फिर विचार कर लीजिये। देखिये, उर्वशी दर्पापहारी महावीर धनञ्जय भी मन के जीतने में असमर्थ हो गीता में कह रहे हैं :—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१॥

और "साक्षात् मन्मथ २ ?" स्वयं भगवान् हृषीकेश भी इस कथन से कि 'असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।" अर्जुन ही की हाँ में हाँ मिलाते हैं। अतएव ऐसे प्रबल मन का किसी समय भी विश्वास करना ठीक नहीं ।

शुक्राचार्य—सच तो यह है, ऐसा कहना ठीक नहीं, जिसका अपने मनही पर विश्वास नहीं, उसका फिर विश्वास ही किस काम का ? अर्जुन और श्रीकृष्ण चाहें जो कहें, पर हम तो यही कहते हैं कि आपकी यह स्मृति ठीक नहीं ।

व्यास—(मुसकुरा कर) अच्छा, जब ऐसाही है, तब आप अपने ही हाथ से ("मात्रा स्वस्त्रा") इस श्लोक पर हड़ताल पोत दीजिये ।

शुक्रा०—सहर्ष) अपने भ्रम को स्वीकार करना यह बड़े पुरुषों के महत्व का द्योतक है । (हड़ताल लगाकर) अच्छा, महर्षे ! बहुत विलम्ब हुआ अब आज्ञा हो ।

व्यासजी के तथास्तु कहने पर समाज भङ्ग हुआ और शुक्राचार्य को थोड़ी दूर पहुँचा कर, सब आश्रमवासी लौट आये एवं अपने २ कार्य में तत्पर हुए ।

आज स्वभाव ही से अमावस्या की अँधेरी रात थी, तिसपर घनघोर घटा ने आकर अन्धकार को ऐसा प्रगाढ बना है कि मानो कलियुग के घोर अन्धेरे को पापियों का

पापमण्डल प्रश्रय दे रहा है। मेघमण्डल कामान्ध पुरुष के समान चपला का आलिङ्गन कर, इस समय गरज गरज कर, साभिमान फैल रहा है, पर हाय! वह नहीं जानता कि उसकी स्थिति एक मात्र वायुमण्डल पर निर्भर है। जब तक हवा बन्द है, तभी तक यह मेघमण्डल है। हवा बदलने पर, इतना पता भी न चलेगा कि उसका वह इतना बड़ा मण्डल कहाँ जा छिपा। अस्तु, आज शुक्राचार्य के सब लोग भगवती कात्यायनी की पूजा के निमित्त गये हुए हैं, आश्रम में अकेले शुक्राचार्य ही प्रकृति के इस भीषण स्वरूप को बैठे देख रहे थे कि अचानक एक ऐसा दुःख भरा शब्द सुनाई पड़ा, जिसने आचार्य का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। विशेष ध्यान देने पर विदित हुआ कि वह किसी पतिपरित्यक्ता वियोगिनी कुलवधू का आर्त्तनाद है, जो रह रह कर वन में प्रतिध्वनित हो रहा है—"हा प्राणनाथ! मुझ अबला को इस निर्जन भयङ्कर वन में अकेली छोड़ कर तुम कहाँ चले गये? स्वामिन्! तुम्हारे बिना सिंहव्याघ्र आदि भयङ्कर जीवों से मुझे कौन बचावेगा?"

इन शब्दों को सुन कर, आचार्य सहसा खड़े हो गये। अपने स्थान से, जो मिट्टी और लकड़ी से अच्छा दृढ़ एवं सुन्दर बना हुआ था, निकले और जिधर से वे शब्द आते थे, उधर ही चले। कुछ दूर चलने पर, उस अबला का शब्द पास ही सुनाई पड़ा। तब आचार्य ने पुकार कर कहा:—

शुक्राचार्य—पुत्रि! तुम कौन हो? डरो मत! किसकी सामर्थ्य है, जो मेरे आश्रम में तुम्हारी ओर आँख उठा कर भी देखे।

यह सुन उस अबला ने भयविह्वल हो उत्तर दिया:—

अवला—अरे! तू कौन है, जो मुझे "पुत्री" कह कर पुकार रहा है? "पुत्री" शब्द की मिट्टी पलीत करने वाले तेरे जैसे अनेक कापुरुष है। सावधान! मेरे पास मत आना, मैं तेरे वाग्जाल में फँसने की नही हूँ। एकान्त में पर-पुरुष मात्र से मुझे भय लगता है। संसार के पापी पुरुष एक वार जिस मुँह से "पुत्री" कहते हैं, उसीसे दूसरी वार उसे "पत्नी" कहने में नहीं हिचकते। इस लिये सावधान! मेरे समीप न आना ... हा प्राणेश्वर! अव क्या करूँ? इस भयङ्कर समय में और इस डरावने वन में मुझे जीव जन्तुओं का उतना डर नहीं था, जितना अव इस पुरुष से है। प्यारे! अव शीघ्र आओ और दासी को विपत्ति से वचाओ।

अवला की वातों से आचार्य ने जान लिया कि स्त्री डरी हुई है और इसे अपने पतिव्रत धर्म का वडा ध्यान है। यह मुझ जैसे धर्मात्मा तपस्वी का इस विपय में विश्वास नहीं करती, और की तो वात ही क्या है? यद्यपि यह हमारा अविश्वास कर अपनी मूर्खता और धृष्टता का परिचय दे रही है, तो भी वह धर्ममूलक होने से मार्जनीय ही नही, किन्तु प्रशंसा के योग्य है। निदान इस समय जैसे वने, वैसे इस अवला को धैर्य्य देना चाहिये।

यह विचार कर आचार्य ने वृक्षों की ओट में खड़ी हुई अवला को नाना प्रकार से समझाया और विश्वास दिलाया कि उनके आश्रम में किसी प्रकार के जीव जन्तु वा पुरुष का

डर नही है। आचार्य के बहुत कहने सुनने और शपथ खाने पर अवला इस पर सहमत हुई कि आश्रम में जाकर, वह कुटीर का द्वार बन्द कर अकेली बैठ जाय, न कोई उसके पास आवे और न किसी प्रकार की उससे छेड़ छाड़ हो, सूर्य्योदय होने पर वा अपने स्वामी के आने पर, जिधर जी चाहे वह बे रोक टोक चली जाय।

शुक्राचार्य के कथनानुसार डरती कॉपती हुई स्त्री आश्रम में चली आई और इङ्गित करने पर जो स्थान ख़ाली और सब से अधिक दृढ था शीघ्रता से उसमें प्रवेश कर उसने भीतर से उसे बन्द कर लिया।

अवला के कुटीर मे प्रवेश करने के समय, एक ऐसी अनौखी घटना हुई कि बात की बात में आचार्य का चित्त डाँवा-डोल होगया।

घोर अन्धकार के कारण आचार्य यह नही जान सके थे कि अवला कौन है ? कैसी है ? वाला है कि युवती है ? कुरूपा है कि सुन्दरी ? और क्या पहने हुए है ? जिस समय वह कुटीर में जाने लगी उस समय विजली के प्रकाश मे उन्होंने देखा अवला असाधारण रूपवती पोड़सी सुन्दरी है। पवन के वेग से उड़े हुए आँचल को उसने इतनी शीघ्रता से सम्हाल लिया कि उस गौराङ्गी के किसी अवयव का क्षण मात्र के लिये भी अच्छी तरह दर्शन न हुआ, तथापि उसके मणि-मण्डित बहु-मूल्य अलङ्कारों ने, जो विद्युत के प्रकाश में अपनी प्रभा की अधिकता प्रदर्शन करने में न चूके, यह सिद्ध कर दिया कि सुन्दरी किसी राजकुल वा समृद्ध वंश से सम्बन्ध रखती है। चलते चलते उस मृगनयनी ने जादू भरी चकित दृष्टि से लज्जा के

साथ आचार्य की ओर भी देखा, जिससे वे एक बार ही आत्मनिस्मृत होगये ।

आचार्य का मन चञ्चल होगया । वे कर्त्तव्य को भूल गये । उन्हें स्वरूप का ज्ञान न रहा । इस लिये इच्छा हुई कि सुन्दरी से चल कर कुछ बातें करें । यह तो जान लें कि वह कहाँ रहती है और वह किसकी पुत्री अथवा पत्नी है । अत वे उस कुटीर के पास गये और द्वार की लकड़ी खटखटा कर पुकारा कि —

"क्यों सुन्दरी इतना शीघ्र सो गयी ?"

जब इस प्रकार कई बार प्रश्न करने पर उत्तर न मिला, तब शुक्राचार्य ने चिल्ला कर कहा :—

"क्या उत्तर देना भी पाप है ? कहो तो बोलती किस लिये नहीं ?"

इसका कोठरी के भीतर से सुन्दरी ने उत्तर दिया :—

"इस लिये कि तुमने प्रतिज्ञा-भङ्ग कर दी" ।

शुक्राचार्य—कैसी प्रतिज्ञा ?

सुन्दरी—वही-तुमने कहा था न, कि हमारे आश्रम में कोई तुमसे किसी प्रकार की छेड छाड़ न करेगा ।

शुक्राचार्य—तो फिर अब तुम्हें कौन छेड़ता है ? हम कुछ पाप की बातें करनी नहीं चाहते, केवल सनातन धर्म की कथा कहना चाहते हैं । एक बार द्वार खोलिये और हम जो धर्मोपदेश करें उसे प्रेम से सुनिये ।

सुन्दरी—रहने दीजिये अपनी सनातन धर्म की कथा को। भाड में जाय तुम्हारा धर्म्मोपदेश। मैं प्राण-नाथ की बातों को छोड़ औरों की बातें सुनना ही नही चाहती।

शुक्राचार्य—प्राणधन! डरो मत, अब हम तुम्हारे हो चुके हैं। हम तुमसे ऐसा वैसा प्रेम नही, विशुद्ध प्रेम करना चाहते हैं।

सुन्दरी—तुम हमारे मत बनो। अपनी माँ वहिन के बनो और उन्हीको "प्राणधन" कह कर पुकारो। पर-स्त्री से प्रेम करते हो और फिर उसे विशुद्ध भी कहते हो। छिः छिः "डूब न मरहु धर्मव्रत-चारी"।

सुन्दरी की बातों से आचार्य कुछ कुछ लज्जित हुए सही, पर उनका चित्त शान्त होने के वदले और भी अधिक चञ्चल हो गया। प्रवोध का उल्टा फल हुआ। उन्होंने वहुत चाहा किसी प्रकार कुटीर के भीतर घुसें और सुन्दरी से मिल कर अपनी वढ़ी हुई प्यास को वुझावें, पर कुटीर का द्वार भीतर से अवरुद्ध और सुदृढ होने के कारण, उनका मनोरथ पूरा नही हुआ।

इतने में मेघमण्डल से नन्ही नन्ही फुवार गिरने लगी। झञ्झावात के स्थान को शीतल मन्द सुगन्ध पवन ने अधिकृत कर, आचार्य की कामवृत्ति को और भी अधिक उद्दीपन कर दिया। वे एक वार ही ज्ञानशून्य और विवेकभ्रष्ट हो गये। सुन्दरी के प्रवोध से उलटे भड़क उठे और प्रतिकारपरायण हुए। उन्होंने निश्चय किया कि कुटीर की छत काट कर, एक वार अन्दर चलना चाहिये।

कुटीर का द्वार और दीवारें दृढ़ बनी हुई थीं। उनका सहज में तोड़ना सम्भव न था। छत कुछ ऐसी वैसी ही थी। चार पाँच बड़ी बड़ी लकडियों के सहारे छोटी छोटी लकड़ियाँ रख कर उन पर भूर्ज-पत्र बिछा रखे थे, जिन पर थोड़ी सी ढालुआँ मिट्टी जमी हुई थी। इस लिये आचार्य के थोड़े ही परिश्रम से शीघ्र ही छत में इतना बड़ा छेद हो गया, जिससे एक मनुष्य सहज में नीचे उतर आया।

मोहमुग्ध शुक्राचार्य सुन्दरी की लालसा से ज्यों ही नीचे उतरे वैसे ही बिजली का प्रकाश हुआ और छत्त के नये मार्ग से कुटीर में आलोक पहुँचा। उस आलोक में आचार्य ने जो कुछ देखा उससे वे काँप उठे, रोमाञ्च होगया और घबड़ा कर उन्होंने दोनों आँखें बन्द कर ली। उनके लिये मानों बिजली के प्रकाश के साथ ही आकाश से वज्र टूट पडा। आँखों के सामने महा-प्रलय हो गया।

शुक्राचार्य ने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखा कि सुन्दरी के बदले जटा-जूट-धारी महर्षि वेदव्यास बैठे हुए हँस रहे हैं और उनके हाथ में धर्मशास्त्र का वही पत्र है, जिस पर शुक्राचार्य हडताल पोत आये थे। शुक्राचार्य को अब ज्ञान हुआ कि सुन्दरी का रूप धारण कर भगवान् वेदव्यास ही उनकी परीक्षा लेने आये हैं। उनसे बड़ी भूल हुई जो महर्षि वेदव्यास के कथन को व्यर्थ बतलाया। सचमुच ही मन बडा चञ्चल है, जिससे इस प्रकार उन्होंने धोखा खाया।

व्यास जी ने इस समय शुक्राचार्य को लज्जित, विस्मित और व्यथित देख कर कहा —

व्यासदेव—आचार्य! गयी बीती बात की चिन्ता न कीजिये भविष्य में सोच विचार कर कार्य किया

कीजिये और मनुजी के इस कथन को, जिस पर आपने हड़ताल लगा दिया है, अपने ही हाथ से सुधार लीजिये।

अधोवदन शुक्राचार्य ने लज्जित होकर उस श्लोक को वैसा ही बना कर सुनाया :—

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१॥"

शिक्षा।

इस उपाख्यान से हमें तीन शिक्षाएँ लेनी चाहिये। (१) यदि किसी विषय में सन्देह उत्पन्न हो, तो उसका स्वयं निर्णय न करके अपने से अधिक ज्ञान सम्पन्न एवं वयोज्येष्ठ से अपना सन्देह मिटा लेना चाहिये। (२) बड़े और त्रिकालदर्शी महात्माओं के वचनों में कभी शङ्का न करनी चाहिये। उन लोगों ने जो कुछ कहा है, वह विचार पूर्वक और अनुभव पूर्वक कहा है। (३) मन चञ्चल है, इसको वश में करने का उपाय यही है जो महर्षि ने शब्दान्तरों में समझाया है। इस मन को ऐसे स्थानों पर न ले जाय, जहाँ पाप कर्म की सम्भावना भी हो। जिस प्रकार रुई और अग्नि का संसर्ग होते ही अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, वैसे ही अच्छे अथवा बुरे उपस्करों के संयोग से मन की दुर्वासनाएँ प्रदीप्त हो उठती हैं। धर्मशास्त्र की इस आज्ञा को कि (अपनी विवाहिता पत्नी को छोड़) अन्य स्त्रियों के साथ कभी एकान्त में न बैठे या बात चीत न करे, सदा पालन करनी चाहिये।

३-भगवद्भक्त ध्रुव का उपाख्यान।

[भगवद्-उपासना का फल]

आहा! इस भवन की शोभा और सजावट का क्या कहना है? देखो इसकी चोटी कितनी ऊँची है, जान पड़ता है, यह आकाश को छूना चाहती है। इस भवन के ऊपर सुवर्ण के कलसों पर प्रभात काल के सूर्य की किरणें पड़ कर, उन्हें अग्नि का गोला बना रही हैं। भवन के चारों ओर सुन्दर विस्तृत उपवन है। सघन और हरे भरे वृक्षों पर अनेक रङ्ग विरङ्ग के पक्षी बैठ कर सुस्वर से गान कर रहे हैं। उस उपवन में, भवन से थोड़ी ही दूर आगे बढ़ कर, छोटी सी पुष्करिणी है, जिसकी सङ्गमरमर की छोटी छोटी सीढ़ियों की अवली मन मोह रही है। पुष्करिणी के तट पर कारण्डव, जलकुक्कुट, आदि पक्षी जल क्रीड़ा कर रहे हैं। उस उपवन की प्राकृतिक शोभा बड़ी ही मनोहारिणी है। भवन के द्वार पर बहुमूल्य वस्त्राभरण से सुसज्जित प्रहरीगण सदा दण्डायमान रहते हैं। उस भवन के भीतर पैर रखते ही इन्द्रभवन जैसी उसकी सजावट देखते ही मन मुग्ध हो जाता है। सुवर्ण और चाँदी और मणिमुक्ताओं से भवन जगर मगर हो रहा है। भवन के एक विशाल दालान

के बीच में एक सुवर्ण सिंहासन पड़ा है। उस पर एक नरेश और उनकी प्राणोपमा राजमहिषी बैठी हुई दोनों परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे। नृपतिवर्य की गोद में एक वालक बैठा था।

पाठक! इन नरेश का नाम उत्तानपाद है। यह इस समय जिस रानी के साथ वार्त्तालाप कर रहे हैं, उसका नाम सुरुचि है। सुरुचि ही का पुत्र उत्तम इस समय महाराज की गोद में वैठा है। इस जनदुर्लभ गार्हस्थ्य सुख को वे ही लोग अनुभव कर सकते हैं, जिनको भगवान् ने धन जन से सुखी कर रखा है। इतने मे उत्तम का सौतेला भाई जिसकी अवस्था अभी पाँच ही वर्ष की है, उस दालान में घूमता फिरता जा निकला। पिता के सिंहासन के समीप पहुँच कर, वालक ध्रुव ने वाल-सुलभ-स्वभाव की प्रेरणा से पिता की गोद में वैठना चाहा। ध्रुव का यह कर्म सुरुचि के क्रोधाग्नि को भड़काने के लिये, ईंधन का काम दे गया। हा! सुरुचि की आँखों के सामने सौत का वेटा ध्रुव महाराज की गोद में वैठे, इससे वढ़ कर सुनीति के लिये असह्य वात और क्या हो सकती है। परोत्कर्ष-असहिष्णु सुरुचि ने अपने भाव को दवा कर, आक्षेप पूर्वक कहा.—

सुरुचि—वेटा ध्रुव! तुम वहाँ मत वैठो। तुम इस योग्य नहीं कि इस गोद में वैठ सको। कारण कि तुम इस भाग्यवती की कोख से नहीं जन्मे। यदि तुम्हें महाराज की गोद ही में वैठने का चाव है, तो प्रथम तपस्या कर भगवान् को प्रसन्न कर, यह वर माँगो कि वे तुम्हें मेरी कोख से उत्पन्न करें।

ध्रुव की विमाता ने अत्यन्त दुर्वाक्य-वाणों से उन्हें वेधा तथापि पिता को कुछ न कहते देख, ध्रुव लकड़ी से पीटे सर्प की तरह

लम्बी साँसें लेते और नेत्रों से आँसू गिराते अपनी जननी सुनीति के पास गये। सुनीति ने पुत्र को अधर कँपाते और उसाँसे भरते देख, अपनी गोद में बिठा लिया। इतने में लोगों ने यथार्थ घटना सुनीति को सुनायी। सुनते ही सुनीति का धैर्य नष्ट हो गया। उसने वन की आग से जली हुई लता के समान शोकाग्नि से दग्ध हो कर, विलाप करना आरम्भ किया। सुनीति को सौत की बातें ज्यों ज्यों याद आती, त्यों ही त्यों वह उसके दुःख का वेग बढ़ता जाता था। अन्त में इस रोग की अन्य औषधि न देख कर, उसने ध्रुव से कहाः—

सुनीति—बेटा! दूसरे ने दुःख दिया या बुराई की, इससे दुःखित न होना चाहिये, क्योंकि अन्त में दुःखदाता स्वयं ही दुःख भोगता है। हे पुत्र! सौत का कहना ठीक है। निस्सन्देह तुमने एक हतभागिनी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया है और सचमुच तुम इस हतभागिनी के स्तनों का दुग्ध पान कर पले हो। अब मैं इससे अधिक तुमसे कह ही क्या सकती हूँ! रानी तो क्या, महाराज मुझे दासी कहने में भी लज्जित होते हैं। तुम मत्सरता छोड़ कर, अपनी सौतेली माता का उपदेश ग्रहण करो। यदि उत्तम के राजसिंहासन पर बैठने की इच्छा है तो उस परम-पुरुष-करुणा-मय जगदीश्वर के चरण कमलों का ध्यान करो।

बालक ध्रुव के मन में जननी का अन्तिम वाक्य चुभ गया। वे चुपचाप उस विशाल राजभवन को परित्याग कर, अकेले वन ओर चल दिये।

ध्रुव कुछ ही दूर आगे गये थे कि मार्ग में उन्हें नारद जी मिले। नारद जी त्रिकालदर्शी थे। उन्हें इस घटना का मर्म जानते क्षण भी न लगा। वे मन ही मन कहने लगे—"क्षत्रियों का कैसा तेज है! क्षत्रिय प्राण वियोग सह सकते है, किन्तु अपमान उनसे नही सहा जाता"। नारद जी ने ध्रुव के मस्तक पर अपना हाथ रखा और कहा :—

नारद जी—हे वत्स! तुम बालक हो। तुम्हारा अभी मान अपमान ही क्या? तुमने जननी के उपदेशानुसार, जिन परम पुरुष की कृपा को प्राप्त करने का विचार किया है, उन्हे प्रसन्न करना सहज काम नही है। अतएव तुम इस उद्योग में प्रवृत्त न हो।

ध्रुव—मैं स्वभाव ही से उग्र क्षत्रिय कुल में जन्मा हूँ। मैं स्वभाव ही से दुर्विनीत हूँ। सुरुचि के वाक्य-बाणों से मेरा हृदय विदीर्ण होगया है। इसीसे आपका उपदेश हृदय में ठहरने नहीं पाता। आप ब्रह्मा के अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं। आप सॅसार की मङ्गल कामना के अर्थ ही सॅसार मे भ्रमण किया करते हैं। यदि आप मेरे भी मङ्गलाकॉक्षी हैं, तो आप मुझे ऐसा कोई उपाय बतलाइये, जिससे मैं सब से उत्तम पद पर जा बैठूँ।

देवर्षि नारद ध्रुव के क्षात्र तेज और उसके विचार की दृढता को देख प्रसन्न होगये। बडे लोगों की प्रसन्नता वृथा नहीं जाती। अतः प्रसन्न हो वे कहने लगे –

नारद—हे वत्स ! तुम्हारी माता ने जिन वासुदेव का नाम बतलाया है वही तुम्हारी अभीष्ट प्राप्ति के मार्गस्वरूप है। तुम एकाग्र हो कर उन्हींका भजन करो। मैं तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा कल्याण हो।

यह कह कर नारद ने ध्रुव को मन्त्रोपदेश किया। तब ध्रुव ने नारद को प्रणाम किया और वे अपने गन्तव्य स्थान को चल दिये।

यमुना का तट है। घोर बियावान वन है। वन में मनुष्य की गन्ध तक नही। ऐसे व्याघ्र सिंहादि मनुष्य-भक्षी जन्तुओं से सङ्कुल वन में पाँच वर्ष का नन्हासा एक बालक, भूख प्यास, निद्रा को त्याग कर, एक पैर से खड़ा भगवान् के ध्यान में मग्न है। न तो उसे सूर्य की आताप कष्ट पहुँचाती है और न रात का हिम सदृश शीतल पवन उसके कार्य में बाधा पहुँचाता है। ध्रुव की ऐसी कठिन तपस्या देख चर-अचर देव-दानव सभी काँप उठे। किन्तु ध्रुव भगवान् के ध्यान में निमग्न ही रहा। यहाँ तक कि भक्तवत्सल भगवान् को निज धाम छोड़ कर ध्रुव के समीप आना ही पड़ा। साक्षात् श्रीपति सामने खडे हैं, किन्तु ध्रुव उनके चरण कमलों के ध्यान में मग्न नेत्र बन्द किये अचल अटल खडा है।

यह देख श्रीपति ने ध्रुव का गात्रस्पर्श किया। तत्काल ही ध्रुव को दैवी-वाक्-शक्ति प्राप्त हुई और उसने ज्योंही नेत्र खोले, त्योंही देवादिदेव चराचर-पति भगवान् विष्णु को अपने सामने , गद्गद् कण्ठ से उनकी स्तुति करने लगा। स्तुति से प्रसन्न भगवान् ने कहा :—

भगवन्—हे क्षत्रिय बालक ! मैंने तेरा अभिप्राय जान लिया। तेरा कल्याण हो। जो सब से उत्तम और सब से ऊँचा पद है, वह हमने तुझे दिया, किन्तु अभी तुझे इस मर्त्यलोक में रह कर राज्य करना होगा, अनन्तर तू सर्वोच्च स्थान पर आसीन होगा।

यह वर दे भगवान् अन्तर्धान होगये। ध्रुव अपने घर की ओर चल दिये।

राजसभा में राजा उत्तानपाद चिन्तित बैठे है। जब से ध्रुव घर परित्याग कर गया है, तब से जो विषम वेदना उत्तानपाद अनुभव कर रहे हैं, उसका वर्णन हो नही सकता। वे मन ही मन अपनी करनी पर पछता रहे हैं। जब से ध्रुव गया है, तब से उत्तानपाद की आँखों के सामने का पर्दा हट गया है। उन्हे अपनी भूल विदित हो गयी है। वे ध्रुव से हाथ धो बैठे हैं। उनको आशा नही कि ध्रुव को वे फिर कभी इन नेत्रों से देखेंगे। उनकी मानसिक विकलता एवं अशान्ति को वे ही जानते हैं। इतने में उन्होंने एक अनोखी बात सुनी, जिसे सुन कर, कुछ क्षणों के लिये उन्हें अपने कर्ण, मन आदि पर भी भरोसा न रहा। उनसे एक आदमी ने आकर कहा—"महाराज ध्रुव आ रहा है"। जिस प्रकार मृतक पुरुप के लौट आने का कोई विश्वास नहीं करता, वैसे ही उत्तानपाद को ध्रुव के आने का विश्वास न हुआ। कुछ ही क्षणों बाद उन्हें देवर्षि नारद की यह बात कि "तुम्हारा पुत्र शीघ्र लौट आवेगा"—स्मरण हो आयी। महाराज ने ध्रुव के आने का सँवाद लाने वाले को अपने गले से उतार बहुमूल्य रत्नों के हार का उपहार दिया। साथ ही चोबदार को आदेश दिया कि हमारा सुवर्ण रथ तुरन्त तयार

किया जाय । रथ में घोड़े जोड़े गये । उसमें बैठ बड़े समारोह के साथ महाराज उत्तानपाद ध्रुव के देखने को आगे बढ़े ।

कुछही दूर राजधानी से आगे बढ़ पाये थे कि सामने से ध्रुव आते हुए दिखलायी पड़े । उत्तानपाद रथ से उतर पड़े । ध्रुव ने दौड़ कर पिता के चरणों में सिर नवाया । पिता ने स्नेहवश ध्रुव को छाती से लगा लिया । वे वार वार उसका सिर सूँघते और स्नेहाश्रु से स्नान कराते थे । अनन्तर ध्रुव ने अपनी दोनों माताओं को प्रणाम किया । उत्तान से भी ध्रुव बड़े प्रेम से मिले । ध्रुव के लौटने का समाचार फैलते ही राजधानी में घर घर आनन्द की बधाई बजने लगीं । कुछ दिनों बाद ध्रुव के पिता संसार की ममता परित्याग कर अन्तिम समय में श्रीपति के चरणों की आराधना करने के निमित्त, राजपाट ध्रुव को सौंप, वनवासी हुए । उत्तान हिमालय पर्वत पर आखेट खेलता हुआ एक यक्ष द्वारा मारा गया । उत्तान की माता सुरुचि ने पुत्रशोक से सन्तप्त हो शरीर त्याग दिया ।

ध्रुव ने यक्षों से भाई के वध का बदला लिया और उन्हें युद्ध में परास्त किया । यक्षों के अधिपति कुबेर से वर प्राप्त कर ध्रुव अपनी राजधानी में लौट आये । ध्रुव ने छत्तीस सहस्र वर्ष तक राज्य किया । उनके राजत्व काल में कोई दुःखी न था । अनन्तर ध्रुव अपने पुत्र को राज्य सौंप, मोक्ष-साधन में प्राप्त हुए, अन्त में उन्हें विष्णु-पद प्राप्त हुआ ।

शिक्षा ।

ध्रुव का चरित्र पढ़ने से हमें जो शिक्षा मिलती है वह यह बालक हो अथवा युवा, अपने मान अपमान का विचार

सब को सदैव रखना चाहिये। ध्रुव की तरह अपनी इष्ट सिद्धि के लिये प्रत्येक मनुष्य को दृढ़ सँकल्प होना चाहिये। जिस प्रकार ध्रुव ने अपने मामा नाना आदि आत्मीय वर्ग का सहारा न तक कर सीधा भगवान् से नेह जोड़ा, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को केवल जगदीश ही का पल्ला पकड़ना चाहिये। क्षुद्र शक्ति मनुष्य की बिसॉत ही कितनी है कि वह दूसरों को स्वयँ सहारा दे सके। जिस प्रकार ध्रुव ने समृद्धशाली साम्राज्य पाकर भी अन्तिम काल को न बिसराया और भगवान् का स्मरण किया, उसी प्रकार हम लोगों को भी साँसारिक झञ्झटों में न फँस कर अपने अन्तिम समय की भी चिन्ता करते रहना चाहिये। जिसका अन्त भला उसका सब कुछ भला।

४—दयालु-हृदया द्रौपदी का उपाख्यान

[अपकारी के प्रति दया का वर्ताव।]

भारतवर्ष का गौरव नाश करने वाला कौरव पाण्डवों का लोकक्षयकारी घोर युद्ध हो चुका है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विपुल-बल-शाली अमित पराक्रम-शाली भीम, दुष्ट दुर्योधन की जँघा भङ्ग कर चुके हैं। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने मालिक का निमक हलाल करने के अर्थ, सोते हुए द्रौपदी के बालकों के सिर काट डाले हैं। पुत्र-शोक-कातरा महारानी द्रौपदी उच्च-स्वर से विलाप कर रही हैं। उस समय अर्जुन ने उन्हें धीरज बँधा कर कहाः—

प्रिये! धीरज धरो। मैं शीघ्र ही तीक्ष्ण शर से आततायी अश्वत्थामा का सिर काट कर लाता हूँ। तुम उस पर बैठ, और स्नान कर पुत्रशोक को दूर करना।

धनञ्जय ने इस प्रकार द्रौपदी को धीरज बँधाया और रथ-पर सवार हो, एवँ कवच पहन कर, श्रीकृष्ण से कहा कि अश्व-त्थामा के पीछे रथ दौडाइये द्रोणतनय. वीरश्रेष्ट अर्जुन को पीछे आता देख, मारे डर के काँपने लगा और प्राण लेकर शीघ्र भागने लगा, किन्तु महारथी अर्जुन के हाथ से निकल सहज काम न था, जब उसने देखा कि अब प्राणों का

वचना कठिन है, तब उसने अर्जुन पर ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। उसको आते देख, अर्जुन विकल हुए और श्रीकृष्ण से बोले —

अर्जुन—हे महाबाहो! भक्त भयहारी!! संशय रूप महा अनल से जलते हुओं के तुम्हीं रक्षक हो। हे देवादि-देव यह कौन सा ऐसा परम अस्त्र है, जो चारों दिशाओं को जलाता अमोघ वेग से चला आ रहा है? यह क्या है और कहाँ से आया है?

श्रीकृष्ण—हे मित्र! यह अश्वत्थामा का चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र है। तुम ब्रह्मास्त्र द्वारा ही इसकी गति रोको। क्योंकि अन्य किसी भी अस्त्र से यह नही रुक सकता।

अर्जुन ने वैसा ही किया। देखते देखते दोनों अस्त्र आकाश में जा पहुँचे। ऐसा जान पड़ने लगा कि प्रलय काल के सूर्य और अग्नि आकाश में अपना प्रकाश फैला रहे हैं। दोनों अस्त्रों के संघर्ष से त्रिभुवन के विनाश की आशङ्का उपस्थित देख, अर्जुन ने श्रीकृष्ण के कहने पर दोनों अस्त्रों को मंत्रबल से शान्त किया और अश्वत्थामा को रस्सी से जकड, यज्ञपशु की तरह अपने रथ के पीछे बाँध डेरे की ओर लौटे।

मार्ग में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा:—

श्रीकृष्ण—हे मित्र! अश्वत्थामा ब्राह्मणों में अधम है। इसने सोते हुए बालकों का रात्रि में वध किया है। इसकी प्राणरक्षा करनी अनुचित है। कहा है कि उन्मत्त, मत्त, सोते हुए बालक,

स्त्री, मूढ, शरणागत, विरथ और भयभीत रिपु को धर्मवेत्ता पुरुष नहीं मारते। जो लज्जाहीन दुष्ट मनुष्य दूसरे के प्राणों से अपने प्राण धारण करता है, प्राणदण्ड ही उसका यथार्थ प्रायश्चित्त है। तुमने हमारे सामने द्रौपदी से प्रतिज्ञा की थी कि इस पापात्मा का मस्तक उसे दोगे। अतएव अब देर क्यों करते हो, शीघ्र ही इस पापी का सिर काट डालो।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन की परीक्षा लेने के लिये, बहुत कुछ अनुरोध किया, किन्तु अर्जुन ने पुत्रघाती गुरुपुत्र अश्वत्थामा का अपने हाथ से वध न किया और ले जा कर द्रौपदी को दे दिया। अपमान पूर्वक लाये हुए, पशु की भाँति रस्सी से बँधे हुए, निन्दित कर्म से नीचा मुख किये हुए, अश्वत्थामा को देख कर, साधुशीला दयालु द्रौपदी ने उसे प्रणाम कर, अर्जुन से कहा:—

द्रौपदी—नाथ! इनको छोड़ दो, ये हमारे परम गुरु हैं। तुमने जिनके निकट धनुर्विद्या सीखी है, ये उन्हींके पुत्र हैं। अभी आपकी गुरु-पत्नी एवं इसकी गर्भ-धारिणी जननी कृपी जीवित है। उनको मेरे समान पुत्रशोक से कातर करना हम लोगों का कर्त्तव्य नहीं है। पुत्रशोक कितना भीषण हृदयदाही होता है, उसे मैं अनुभव द्वारा भली भाँति जान गयी हूँ। मैं भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि वे ऐसा शोक शत्रु को भी न दें।

द्रौपदी के ऐसे साधु वचन सुन भीम को छोड़, महाराज युधिष्ठिर, नकुल आदि जितने लोग उस समय वहाँ उपस्थित थे, द्रौपदी की प्रशंसा करने लगे, परन्तु भीम ने क्रोध में भर कर कहा:—

भीम—पापी का नाश करना ही उसका यथार्थ प्रायश्चित्त है। इस नराधम ने सोते हुए लड़कों को विना ही अपराध मारा है। इसको कभी न छोड़ना चाहिये।

द्रौपदी और भीमसेन का कथन सुन श्रीकृष्ण हँसे और अर्जुन को देख कर कहने लगे —

श्रीकृष्ण—हे सखे ! ब्राह्मण यद्यपि अवध्य है, तथापि आततायी को मारना ही चाहिये। मैंने धर्मशास्त्र में ये दो प्रकार की व्यवस्था दी हैं। अब तुम दोनों ही आज्ञाओ का पालन करो। तुम अपनी प्रतिज्ञा को भी पूरा करो और भीमसेन तथा द्रौपदी का कहना भी सत्य करो।

श्रीकृष्ण के वाक्य सुन, अर्जुन कुछ क्षण तक बड़े असमञ्जस में पडे। क्योंकि वध और प्राणरक्षा दोनों एक पात्र में कभी सम्भव नही। सहसा अर्जुन को एक युक्ति सूझ पड़ी। वे तुरन्त श्रीकृष्ण का अभिप्राय समझ गये। उन्होंने झट अश्वत्थामा के शिर की मणि को केशों सहित खड्ग से काट लिया। अश्वत्थामा पहले ही मारे लाज के अधमरा हो गया था अब मणि विहीन होने के कारण वह निस्तेज एवँ प्रभाहीन हो गया। तब अर्जुन ने उसे अपने घर से निकाल दिया।

धर्मशास्त्र कहता है कि वध के पलटे ब्राह्मण का सिर मुड़ा दे, उसका धन लेले, और उसे देश निकाला दे दे, किन्तु उसका वध न करे। ब्राह्मणों के लिये शारीरिक दण्ड का निषेध है।

शिक्षा ।

हमको श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में लिखे हुए इस उपाख्यान से यदि कोई शिक्षा मिल सकती है, तो यही है कि स्वयं भले ही कष्ट सहले, पर दूसरों को अथवा अपने को कष्ट देने वालों को, बदला लेने की शक्ति रहने पर भी कष्ट न पहुँचावे। संसार में सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ धर्म यही है कि दूसरों के प्रति वह व्यवहार मत करो, जो यदि दूसरा तुम्हारे साथ करे तो तुम्हें बुरा जान पड़े। वास्तव में विजयी वे ही हैं जो क्रोध को अक्रोध से, असाधु को साधुता से, कदर्य को दान से और असत्य को सत्य से जीतते हैं।

५-दुराचारी राजा वेण का उपाख्यान।

[अहङ्कार का शोच्य परिणाम।]

न यष्टव्य न दातव्य, न होतव्य द्विज क्वचित्।
इति न्यवारयद्धर्मं, भेरी घोषण सर्वश॥

देखा जाता है, कीचड से कमल और देदीप्यमान दीपक से कज्जल उत्पन्न होता है। बुरे लोगों की सन्तान अच्छी और अच्छों की सन्तान बुरी होती है। महाराज अङ्ग एक धार्मिक राजा थे, वे भगवान् को परम आराध्य समझ, यज्ञ याग सदा किया करते थे, तथापि उनके कोई सन्तान न थी। पीछे बहुतसा देवाराधन करने पर सन्तान हुई भी तो वह न होने के समान ही कहनी चाहिये।

अङ्ग के पुत्र का नाम वेण था। वह जब राजगद्दी पर बैठा, तब निरङ्कुश हाथी की तरह, सबको तृणवत् समझने लगा। यद्यपि वेण के शासन में कोई विशेष त्रुटि न थी, तथापि उसके धार्मिक विचार नास्तिकों जैसे थे। वह इस सृष्टि का नियन्ता, जगन्नियन्ता सर्वेश्वर जगदीश को न मानकर, स्वयं उस पद पर प्रतिष्ठित होने का प्रयासी था। उसने अपने राज्य की सीमा में मुनादी करवा दी थी कि मेरे राज्य में बसने वाला कोई भी

द्विज, न तो यज्ञ करे, न किसी को दान दे और न अग्नि में आहुति दे।

वेण ने ईश्वर के साथ प्रतिद्वन्दता कर प्रथम उन कामों को रोका जिससे भगवान् प्रसन्न होते है। राजा की इस आज्ञा के प्रचारित होते ही प्रजा मण्डली में खलबली मच गयी। देश-हितैषी महात्माओं ने एक सभा की और इस घोर विपत्ति से निस्तार पाने के लिये उपाय सोचा। उन महात्माओं ने आपस में कहा—"इस समय आकाश-मण्डल विपत्ति के मेघो से अच्छादित है। जो दशा काठ के बीच में बैठी चीटी को काठ के दोनों ओर आग लगने से होती है, वही दशा हम लोगों की होरही है। जब यह राजा न था, तब चोर डॉकुओं का उपद्रव था। जब इसे राजा बनाया, तब यह धर्म कार्यों ही में बाधा डालता है। जिस प्रकार साँप दूध पिलाने वाले को भी काट लेता है, वैसे ही यह दुष्ट वेण उत्पात करने को कमर कसे तयार है"।

अन्त में उस सभा के उपस्थित सदस्यों ने निश्चित किया कि पहिले चल कर, वेण को समझाना चाहिये और यदि समझाने पर भी वह अपनी चाल न सुधारे तो उसे ब्रह्मतेज से भस्म कर देना चाहिये।

इस प्रकार आपस में विचार कर, सब नेता मिल कर राजा वेण के पास गये और उससे कहा:—

नेता गण—राजन्! हम जो तुमसे कहते है, उससे तुम्हारी आयु, लक्ष्मी, बल और कीर्त्ति बढ़ेगी। अतः हमारी बातों को मन लगा कर सुनो। हे नृपवर्य! यदि मनुष्य वाक्य

मन और देह शुद्ध कर के धर्म्माचरण करता है, तो वह ऐसा लोक प्राप्त कर सकता है, जिस लोक में शोक का लेशमात्र भी नही है। अधिक क्या कहें, धर्माचरण से मनुष्य को मुक्ति तक प्राप्त होती है। अतएव हे वीर! ऐसे धर्म का नाश मत करो। धर्म रक्षा होने से प्रजा का कल्याण होता है। जिस राजा का धर्म नष्ट होता है उसका ऐश्वर्य नष्ट होता है। जो राजा अपने प्रजा की चोर लुटेरों से रक्षा करता है और उचित कर उगाहता है—वह राजा इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है। जिस राजा के राज्य में बसने वाले लोग, अपने वर्णाश्रम धर्मों में रह कर, भगवान् को पूजते हैं, उस राजा पर भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नता से कोई पदार्थ दुर्लभ नही रहता। यहाँ नक कि उस राजा को वड़े वड़े लोकपाल आदर सहित पूजा भेंट चढाते हैं। अतएव हे नृपति! आप स्वयं यज्ञपुरुप भगवान् को प्रसन्न करने के लिये वेद के मंत्रों से यज्ञ करके अपने देश का उद्धार करो और आपके राज्य में वसने वाले जो द्विज भगवान् के कलारूपी देवताओं को सन्तुष्ट कर के अपने अभीष्ट को पाते रहे हैं, उनका आप

अपमान मत करो । बस यही हमारा कहना है ।

बड़े बड़े महात्माओं के अमृत तुल्य उपदेश को सुन कर भी, राजा वेण का अज्ञान दूर न हुआ और वह महा अभिमानी राजा महात्माओं को झिड़क कर बोला :—

राजा वेण—तुम लोग बड़े मूर्ख और अज्ञानी हो । तुम्हें स्वयँ जब धर्माधर्म का ज्ञान नहीं, तब हमें तुम क्यों कर सुमार्ग पर चला सकते हो । हम देखते हैं जो सरासर अधर्म है, उसे ही तुम धर्म समझे बैठे हो। तुम उस दुश्चरित्रा स्त्री की तरह हो, जो अपने पति को छोड़, दूसरे मनुष्य की प्रीति की भिखारिन बनती है । जो मूढ़—भूपाल रूपी साक्षात् ईश्वर का अपमान करते हैं, वे स्वयँ अपने पैर में कुल्हाडी मार कर अपने हाथों परलोक बिगाड़ते हैं । सुनो, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, कुवेर, चन्द्रमा, पृथिवी, अग्नि, समुद्र आदि जितने देवी देवता वरदान और शाप देने की शक्ति रखते हैं—वे सभी तो राजा के शरीर में बसते हैं । कहा भी है 'सर्वदेवमयो नृपः'' अर्थात् सब देवताओं का अँश राजा में होता है । इस लिये हे ब्राह्मणो ! हम तुम्हें यज्ञ करने की मनाई नहीं करते, पर इतना अवश्य कहते हैं कि

जो कुछ करो हमारे नाम से करो । उत्तम उत्तम पदार्थ लाकर हमारे सामने रखो और हमारी पूजा करो । ऐसा कौन है जो हमारे पहले यज्ञ का भाग पा सके ?

कुमार्ग-गामी वेण ने महात्माओं का कहना न माना और अपने को सब से बड़ा समझ, उसने भगवान् तक का अपमान किया । यह देख वे सब तपोधन ब्राह्मण क्रोध में भर एक स्वर से कहने लगेः—

ब्राह्मण गण—इस निष्ठुर स्वभाव वाले पापी के जीवित रहने से संसार भस्म हो जायगा । इस लिये इसे तुरन्त मार डालो । यह निर्लज्ज इतना बड़ा दुष्ट है कि यह भगवान् की निन्दा करते भी नहीं हिचकिचाता । इसमें राजा बनने की योग्यता नहीं है ।

राजा वेण के मार डालने का मन्तव्य सर्वसम्मति से स्वीकृत होते ही, उन महात्माओं ने ज्यों ही "हुँ हुँ हुँ" कहा, त्यों ही राजा वेण निर्जीव हो धराशायी हुआ ।

शिक्षा ।

इस उपाख्यान से जो शिक्षा मिल सकती है, वह प्रत्यक्ष ही है । अर्थात् राजराजेश्वर हो कर भी जो सनातन-धर्म में हस्त-क्षेप करता है उसका ऐश्वर्य स्थायी नहीं होता । साथ ही स्वयं वह चाहे वृहस्पति के समान ही बुद्धिमान क्यों न हो । पर जिस बात को दस भद्र पुरुष कहें, उसे अवश्य मान लेना चाहिये । यदि राजा वेण, उन तपस्वियों का कहना मान लेता तो वह क्यों मारा जाता ?

६-अजामिल का उपाख्यान।

[हरिनाम की महिमा।]

हिमालय और विन्ध्य पर्वत के मध्य में कान्यकुब्ज नामक एक देश है। उसके एक ग्राम में अजामिल नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसका चरित्र इतना गिरा हुआ था कि अनेक ब्राह्मण कुमारियों के रहते हुए भी उसने एक शूद्रा के साथ विवाह किया। इस शास्त्रविरुद्ध आचरण से उसकी मति भ्रष्ट हो गयी और अच्छे बुरे का ज्ञान उसमें न रहा। इस संसार में भद्रों की दृष्टि में जो जो काम निन्द्य एवं गर्हित समझे जाते है, वेही उसके नित्य नैमित्तिक कर्म थे। वह बेधड़क जुआँ खेलता, चोरी करता और लोगों को ठग कर जो कुछ कमाता, उसीसे अपने आश्रित जनों का एवं अपना भरण पोषण करता था। इस प्रकार पाप की गठरी बाँधते बाँधते अजामिल ने अट्ठासी वर्ष बिता दिये। अब उसे बुढापे ने आ दबाया। इस बीच में वह दस पुत्रों का पिता भी हो गया था। दस पुत्रों में जो सब से छोटा था, उसका नाम उसने नारायण रख छोडा था, और नारायण ही पर उसका सब से अधिक स्नेह था। बिना नारायण को साथ ` ` न तो वह बूढ़ा ब्राह्मण स्वयं भोजन करता और न बिना । को साथ लिये वह कहीं आता जाता था।

इस प्रकार अजामिल की आयु का अन्तिम दिन आ पहुँचा। अजामिल की महायात्रा का समय अब आ पहुँचा है। इस समय उसका मन संसार के किसी भी पदार्थ की ओर नहीं है। उसे अपने कनिष्ठ पुत्र नारायण ही की चिन्ता है। जिस समय उसका प्राण निकलने को हुआ, उस समय भी उसने 'नारायण" कह कर अपने उस पुत्र को बुलाया। नारायण को बुलाते ही बूढ़े अजामिल के प्राण निकल गये।

तब अजामिल देखता क्या है कि तीन विकराल शरीरधारी भयानक आकृति के यमदूत हाथ में फाँसी लिये, उसे पकड़ कर ले जाने को सामने खड़े हैं।

उधर मरते हुए अजामिल के मुख से भगवान् के नाम का उच्चारण सुन नारायण के पार्षद गण अजामिल को लेने के लिये पहुँचे। उनके आने पर विष्णु-पार्षदों और यमदूतों में अजामिल को ले जाने के विषय में कुछ कहा सुनी हुई।

विष्णु-पार्षद कहते थे कि अजामिल को हम वैकुण्ठ लेजायँगे और यमदूत कहते थे कि इस पापी का वकुण्ठ में काम ही क्या है? यह तो नरक में पचाया जायगा। यमदूतों ने विष्णु-पार्षदों से पूँछाः—

यमदूत—आप लोग यह तो बतलावें कि हमारे कार्य में आप क्यों बाधा देते हैं? हम धर्मराज के आज्ञाकारी भृत्य हैं और उन्हीकी आज्ञा से हम इस पापी को लेने आये हैं।

विष्णु-पार्षद—अच्छा। यदि तुम धर्मराज के दूत हो तो बतलाओ धर्म का स्वरूप और लक्षण क्या है? किस कारण से दण्ड देना चाहिये? दण्ड

का यथार्थ पात्र कौन है ? मनुष्य के समस्त कर्म ही क्या दण्डनीय हैं ?

यमदूत—वेद-विहित धर्म ही धर्म है, और उसके विपरीत आचरण ही अधर्म है। पण्डितों का कहना है कि 'वेदस्तु भगवान् स्वयं।' सूर्य, अग्नि, आकाश वायु, देवता, चन्द्रमा, दिन, रात, सन्ध्या, दिक, जल, पृथिवी और साक्षात् धर्म ये सब प्राणधारियों के कर्म के साक्षी हैं। इन्हींके द्वारा मनुष्यों के पाप पुण्य जाने जाते हैं। जो अधर्मी सिद्ध होता है, उसीको दण्ड दिया जाता है। इसने शास्त्र की विधि को लाङ्घ कर अति निन्दित यथेच्छाचार करके और शूद्रा के हाथ का अन्नाहार कर के अपवित्र हो समय विताया है। इसकी सारी आयु पापकर्मों ही में व्यतीत हुई है। इसने आज तक पाप का कभी कोई प्रायश्चित्त नहीं किया। अतएव हम लोग इस पापी को दण्ड देने वाले यमराज के निकट ले जायँगे। वहाँ यह दण्ड पाकर शुद्ध होगा।

विष्णु-पार्षद—धर्म जानने वालों की सभा में निर्दोषों को दण्ड मिलना बड़े ही दुःख की बात है। जिन का कार्य रक्षा करना है, यदि वे ही अत्याचार करने लगें, तो क्या किया जाय! बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, इतर लोग उसीका अनुकरण करते हैं। साधारण जन अज्ञानी होने के कारण धर्म अधर्म

को नहीं जानते। ऐसे मनुष्य जिनकी गोद में सिर रख कर निश्चिन्त हो सो रहे है, उन्होंने दयालु और सर्वजीवों के विश्वास-पात्र होकर, किस प्रकार उनका अनभल किया? इस ब्राह्मण ने करोड़ जन्म के पापों का प्रायश्चित्त किया है। क्योंकि इसने विवश होकर भी श्रीमन्नारायण का नाम उच्चारण किया है। उस नाम के उच्चारण मात्र मे इतनी शक्ति है कि वह जन्म जन्मान्तर की सञ्चित पापराशि को नष्ट कर के घोरातिघोर पापी को भी क्षण भर में मोक्ष दे सकता है।

यह सुन यमदूतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। पहले कभी उन दूतों ने ऐसी अनोखी बातें नहीं सुनी थीं। उनको चकित देख विष्णु-पार्षद फिर कहने लगे —

विष्णु-पार्षद—हे यमदूतो! तुम विस्मित न हो। तुम ठीक कहते हो कि इस ब्राह्मण ने जन्म भर पाप किये, परन्तु "नारायण' इन चार अक्षरों का नाम लेते ही उसका प्रायश्चित्त हो गया। "नारायण" नाम उच्चारण करने वाले को श्रीभगवान् अपना समझ कर स्नेह करते हैं। नारायण का नाम लेने ही से पापी जैसा शुद्ध होता है वैसा उन प्रायश्चित्तों की व्यवस्थाओं से नहीं जिनको मनु आदि ब्रह्मचारी मुनियों ने बतलाया है। जो लोग

जड से अपने पापों को नष्ट करना चाहें, उनके लिये नारायण के गुणों का कीर्त्तन उचित है। ऐसो के लिये यही एक सर्वोत्तम और सुलभ प्रायश्चित्त है। नारायण का नाम लेने से मन शुद्ध होता है। अब तुम लोग इसको नही ले जा सकते। इसके सब पापों का प्रायश्चित्त हो गया।

पण्डितों का मत है कि परिहास, गीत, पुत्रादि के नाम के मिस से—जैसे भी हो, नारायण का नाम लेते ही अनन्त पाप नष्ट हो जाते हैं। ऊँचे स्थान से गिरने पर, मार्ग में सर्पादि द्वारा काटे जाने पर भी यदि मरता हुआ मनुष्य, नारायण का नाम ले, तो वह नरक की पीड़ा से छूट जाता है।

इस प्रकार विष्णु-पार्षदों ने अजामिल को यमदूतों की फाँस से छुड़ाया और उसे वैकुण्ठ को ले गये। विष्णु-पार्षदों के अधिकार में पहुँचते ही अजामिल को अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त हुआ। वह मन ही मन इस बात के लिये पछताता रहा कि हाय मैंने अपनी सारी आयु इन्द्रिय-लोलुपता में गँवायी, और ऐसे दयालु भगवान् का नाम मैंने क्यों सदा न लिया?

शिक्षा।

इस उपाख्यान से हमको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अजामिल की तरह हम अपना जीवन कुकर्मों में नष्ट न करें। जड़ इन्द्रियों के वशवर्त्ती बन कर, अपने परलोक को नष्ट न

करें। हम किसी भी अवस्था मे क्यों न हों, नारायण को न भूलें। ज्ञान से या अज्ञान से, चाहे जैसे काठ को अग्नि में डालो, काठ जैसे जले विना न रहैगा, वैसे ही जान कर या अनजाने, जैसे बने वैसे जो नारायण का नाम लेता है, उसके सब प्रकार के खाद्याखाद्य, गमनागमन, स्पर्शास्पर्श, कायिक, वाचिक, मानसिक, सॉसर्गिक पाप नष्ट हो जाते हैं। रोगी यदि विना जाने भी, अपने रोग की योग्य औषधि, जो कि वीर्यवान है, सेवन करे, तो अश्रद्धा से सेवन की हुई भी वह औषधि अवश्य ही उस रोग को दूर करेगी। इसी प्रकार यदि हम निरादर से भी नारायण का नाम लें, तो निश्चय ही हमारे समस्त दुरित नष्ट हो जायँगे। अन्तिम शिक्षा, ध्यान-पूर्वक इस उपाख्यान को पढ़ने से हमें यह मिलती है कि हमको अपने बाल बच्चो के नाम ऐसे रखने चाहिये जो भगवान् के नाम पर हों। यदि हम उन्ही के नाम के मिस से भगवान् का नाम लेंगे, तो भी हमारा कल्याण ही होगा, जैसा कि अजामिल का हुआ।

७—वृत्रासुर और इन्द्र का उपाख्यान ।

[अन्त में ईश्वर ही सहायक होते है ।]

अच्छे और बुरे साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं । दिन के साथ रात होती है, यदि उजियाला है, तो अँधेरा भी है । यदि पाप है, तो पुण्य भी है । यदि साधु है, तो असाधु भी हैं । सृष्टि का यह अनिवार्य क्रम है । इस क्रम से देवताओं के साथ दुःखदायी असुरों की भी सृष्टि हुई । सृष्टि होना, प्रकृति का नियम है, पर एक दूसरे को अपना शत्रु समझ परस्पर हानि पहुँचाने का जो यत्न किया जाता है, वही दुःखदायी है और यही दो दलों में सँग्राम होने का मुख्य कारण है । भले लोग ऐसे लोकक्षयकारी कर्मों से अपने को दूर रखना भी चाहें, पर दुष्ट स्वभाव जन उन्हें विवश कर अपनी श्रेणी में ले ही आते हैं । यही कारण देवासुर सँग्राम का समझना चाहिये ।

वृत्रासुर एक दानव था, जो देवताओं को सदा तङ्ग किया करता था । उसके भय से इन्द्र रात दिन डरा करते थे । जब उससे निस्तार पाने का अन्य उपाय देवताओं को न सूझ पड़ा, तब वे त्रितापहारी भगवान् विष्णु की शरण में गये और (` कर, उन्हें प्रसन्न किया । भगवान् ने प्रसन्न हो कर देवताओं कहा :—

भगवान् विष्णु—हे इन्द्र! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम जाकर दधीचि से उनके शरीर को माँगो, उनका शरीर विद्या, व्रत और तप से अत्यन्त दृढ हो गया है। यदि दधीचि के शिष्य अश्विनीकुमार, उनसे शरीर माँगेंगे, तो वे निश्चय ही उन्हे दे देंगे। तब उनकी अस्थि से विश्वकर्मा द्वारा तुम वज्र निर्माण कराना। उस वज्र से तुम वृत्त का मस्तक काट सकते हो।

दधीचि भगवान् के ध्यान में मग्न हैं। इतने में देवतागण उनके पास जाकर उनसे कहने लगेः—

देवगण—भगवन्! आपके समान महापुरुष ही भूतो पर दया किया करते है। जो यशस्वी हैं, वे आप जैसों की प्रशंसा किया करते हैं। अतएव ऐसी कौन वस्तु है, जो आपके अदेय है। इसमें सन्देह नही कि सब लोग स्वार्थी हैं और जो स्वार्थी होता है, वह दूसरे की विपत्ति नही समझ सकता। यदि समझ सकता तो कोई भी दूसरे से कुछ न माँगता। साथ ही यह भी बात है कि जो दाता सामर्थ्यवान होते है, वे कभी "ना" नही कहते।

यद्यपि देवताओ ने बात बडी घूम फिरा कर कही थी और कहनी भी चाहिये थी, क्योंकि सहसा किसी से कोई यह नही कह सकता कि आप हमें अपनी हड्डी निकाल कर दे दीजिये,

तथापि त्रिकालदर्शी ऋषि ने देवताओं के मन की यथार्थ बात जान ली। वे कहने लगेः—

दधीचि—यद्यपि यह देह मुझे अत्यन्त प्यारी है, तथापि अब मुझे इसे छोड़ना ही पड़ेगा। जो दूसरे के हित साधन के लिये अपने इस नाशवान् शरीर का दान करके धर्म और यश को उपार्जन करने की चेष्टा नहीं करता, उसकी बुद्धि पर स्थावर भी हँसते है। जो दूसरों के दु ख से दु.खी और सुख से सुखी होते हैं, उनकी लोग प्रशसा करते और उनका यश चिरस्थायी होता है। प्राण निकलने पर इस शरीर को देख अपनी इसी देह से उत्पन्न पुत्रादि भी भयभीत होते और घिनाते है। ऐसे तुच्छ शरीर की ममता में पड, जो परोपकार नही करता, उससे बढ़ कर मन्दबुद्धि और कौन हो सकता है ?

यह कह कर दधीचि ने शरीर त्याग दिया। उनकी हड्डी से विश्वकर्म्मा ने वज्र बना कर इन्द्र को दिया। इस वज्र को पाकर इन्द्र नवीन बल से उत्साहित हो वृत्रासुर के सामने हुए। बड़ा घोर संग्राम हुआ। इस बार दैत्य, देवताओं के अप्रतिहत आक्रमण को न सह कर, रणभूमि छोड़ कर भागे। दैत्यों को भागते देख, वृत्रासुर ठठाकर हँसा और अपने अनुयायियों से कहने लगाः—

वृत्रासुर—इस संसार में मृत्यु का प्रतिविधान कोई नहीं दीख पडता। यदि मृत्यु से स्वर्ग की अथवा यश को प्राप्ति हो सके, तो ऐसा मन्दमति

कौन होगा, जो अपनी उचित मृत्यु की
अभिलाषा न करता हो। मृत्यु दो प्रकार की
है, शास्त्र-सम्मत और दुर्लभ।

इस प्रकार बहुत समझाने पर भी दैत्य न रुके, क्योंकि समय देवताओं के अनुकूल था। यह देख वृत्रासुर हाथ में एक बड़ा पैना त्रिशूल ले देवदल पर दौड़ा। इन्द्र ने उसे आते देख उस पर गदा चलायी। उस गदा को इन्द्रशत्रु ने बाएं हाथ से पकड़ लिया। फिर उसने क्रोध कर इन्द्र पर आक्रमण किया और वह गदा ऐरावत के खींच कर मारी। उसकी चोट से ऐरावत दस धनुष पीछे इन्द्र को लिये हुए हटा और मुँह से रुधिर उगलने लगा। इन्द्र को सन्मुख देख, वृत्रासुर ने इन्द्र को फटकारा और बोला—"अरे इन्द्र! ठहर, ठहर, अब मेरे हाथ से तू निकल कर कहाँ जा पाता है? आज मैं तुझसे अपने भाई और गुरु का बदला लेकर छाती ठण्डी करूँगा। हे वीर इन्द्र! यदि तू मुझको इस युद्ध मे पराजित करके वज्र से मेरा सिर भी काट डालेगे, तो भी मैं कर्मबन्धन से छूट कर और अपने शरीर से भूतों को बलिदान देकर, उस पद को प्राप्त होऊँगा। हे देवेन्द्र! तेरा यह शत्रु तेरे सामने खड़ा है। फिर तू उस पर अमोघ वज्र क्यों नही चलाता? यह मैं भली भाँति जानता हूँ कि इस वज्र से मेरी मृत्यु होगी, क्योंकि इस वज्र में नारायण का तेज और दधीचि का तेज है। इसके अतिरिक्त जिस ओर भगवान् विष्णु रहते हैं, उसी ओर जय, श्री, तथा अन्य गुण वर्त्तमान रहते है।"

इतना कह कर, वृत्रासुर को संकर्षण का उपदेश स्मरण हो आया। स्मरण होते ही वह भगवान् की स्तुति करके कहने लगा,—

वृत्रासुर—हे सर्व-सौभाग्य-स्थान ! मै तुमको छोड कर न तो ध्रुवलोक चाहता हूँ और न चक्रवर्त्ती का पद । मुझे मुक्ति की भी इच्छा नही है । मुझे आपके दर्शन की वैसे ही लालसा है जैसी अजातपक्ष पक्षिशावक को अपनी माता के दर्शन की होती है, अथवा भूखे बछड़े को अपनी माता के दर्शन की होती है अथवा काम-पीडिता स्त्री को अपने पति के दर्शन की लालसा होती है । मै ससार मे फँस कर भ्रम रहा हूँ, हे पवित्रयशा: ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि आपके भक्तो के साथ मेरी प्रीति हो जाय । आपकी माया ही से देह, गेह, स्त्री, पुत्रादि में आसक्ति उत्पन्न हुई है, अब प्रार्थना है कि इन समस्त वस्तुओं में मेरी प्रवृत्ति न हो ।

यह प्रार्थना कर, वृत्रासुर ने वह त्रिशूल इन्द्र पर चलाया । पर वज्रधारी इन्द्र घबड़ाये नही । उन्होंने झट उस शूल को और दैत्य की बॉह को काट डाला । बॉह काटने से उसे बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ और दूसरे हाथ से लोहे का एक मुग्दर ले वह इन्द्र की ओर दौड़ा । पास पहुँच कर मुग्दर से पहले इन्द्र की ठोडी में और फिर ऐरावत पर प्रहार किया । इस आघात के मारे इन्द्र के हाथ से वज्र गिर पड़ा । इन्द्र लज्जित हुए और वज्र को उठाना न चाहा । यह देख कर वृत्रासुर ने कहा—"हे इन्द्र ! वज्र उठा कर मुझ पर प्रहार करो ।"

वृत्रासुर के ऐसे निर्भीक और वीरोचित वचन सुन कर ने उसकी प्रशंसा की और वज्र को उठा लिया । फिर हँस कहा:—

इन्द्र—दैत्येन्द्र! तुम सिद्ध हो गये। विष्णु भगवान् की मोहिनी माया से तुम पार हो गये। क्योंकि तुम्हारा आसुरिक स्वभाव पलट गया है। तुम इस समय महापुरुष हो गये हो।

इतना कह कर, दोनों मे फिर युद्ध आरम्भ हुआ। वृत्रासुर ने एक शूल बड़े वेग से इन्द्र पर फिर चलाया। उसको इन्द्र ने वज्र से टुकडे टुकड़े करके वृत्रासुर की दूसरी बाँह भी काट डाली। तब तो वृत्रासुर इन्द्र की ओर दौड़ा और उनको निगल गया। इन्द्र ने वृत्रासुर की कोख को वज्र से चीर डाला। वृत्रासुर मारा गया। उसके शरीर से एक ज्योति निकली, जो भगवान् की दिव्य देह मे समा गयी।

शिक्षा।

इस उपाख्यान से हमें जो शिक्षा लेनी चाहिये वह यह है कि हम जब किसी काम को करते करते थक जाँय और वह पूरा न हो तब हमें हताश हो उसे छोड न देना चाहिये, किन्तु देवताओं ने जैसे वृत्रासुर के वध का उपाय जानने के लिये भगवान् से प्रार्थना की. उसी प्रकार हमको भी भगवान् से प्रार्थना कर अपने कार्य को पूरा करने का उपाय जानने के अर्थ प्रार्थना करनी चाहिये। इस उपाख्यान से दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि हमको दधीचि की तरह परोपकारी होना चाहिये। यदि किसी का काम हमारे शरीरत्याग से भी निकलता हो, तो भी हमें आनाकानो न करनी चाहिये। यह शरीर नाशवान् और क्षणभङ्गुर है किन्तु यश स्थायी एवं अटल है। तीसरी शिक्षा

हमको वृत्रासुर के वीरोचित वर्त्ताव से लेनी चाहिये। जिस समय इन्द्र के हाथ से वज्र गिर पड़ा था, उस समय यदि वृत्रासुर चाहता, तो इन्द्र को भारी क्षति पहुँचा सकता था, किन्तु शत्रु के बलवान् होते हुए भी, उसने नीचता का व्यवहार न किया और अशस्त्र इन्द्र पर शस्त्र न चलाया। धन्य वृत्रासुर को, धन्य उसके कुल को और धन्य उसकी बुद्धि को कहना चाहिये कि जिसने भगवान् के तत्व को जान, मरते समय अपना मन उनके चरण कमलों में अर्पण किया जिसका फल यह हुआ कि वह भगवान् मे जा मिला।

८-प्रह्लाद का उपाख्यान।

[सच्चे भगवद्भक्त की सामर्थ्य।]

एक राजभवन के भीतर एक बड़ा ही विचित्र सजा हुआ दालान है। उस दालान में अनेक सुवर्ण की सेजें है। दीवालों मे सोने की खूटियॉ है। उन सेजों पर बहुमूल्य आसन बिछे हैं। स्फटिक और बहुमूल्य मणियो के बने हुए सहस्रों दीपक जल रहे हैं। अनेक कमनीय रत्नो के बने हुए सजावटी सामान दीपकों के समान आभा दे रहे हैं। उस दालान के सामने एक मनोहर उपवन है, जिसमें अनेक देववृक्ष हैं। उन वृक्षों पर अनेक प्रकार के पक्षियो के जोडे सुख से बैठे हुए, प्रसन्नमन गान कर रहे हैं और अनेक भौंरे सुगन्ध युक्त पुष्पों की सुगन्ध से अन्धे बन कर, गुन गुन कर, उन पर मडरा रहे है। उद्यान में जितनी बावडी अथवा जलाशय हैं उन सब की सीढियॉ वैदूर्य्य मणि की बनी हुई हैं। इन जलाशयों में कमल बबूले आदि जल में उत्पन्न होने वाले फूल खिल रहे हैं। इन फूलों से सुशोभित जलाशयों की शोभा, चकवा, हंस, सारस आदि जलपक्षियों के विहार से और भी अधिक बढी हुई है।

उस सजे हुए दालान के बीच में एक बड़ा ऊँचा और विचित्र शिल्पकला का आदर्श स्वरूप एक रत्नजटित सुवर्ण सिंहासन रखा है। उस पर दैत्यनाथ हिरण्यकाशिपु बैठा है। उसने बड़े स्नेह के साथ पास खड़े हुए, अपने पुत्र प्रह्लाद को गोद में बिठा कर, पूँछा :—

हिरण्यकशिपु—बेटा ! तुम इस संसार में किस वस्तु को श्रेष्ठ समझते हो ?

प्रह्लाद—हे पूज्य पिता ! गृहस्थों की बुद्धि, "यह अपना है", "यह पराया है" और "मैं", 'मेरा" आदि मिथ्या कल्पनाओं की चिन्ता एवं चर्चा में सदा चञ्चल रहती है। अतएव घर छोड़ वन में जाकर नारायण के चरणकमलों की सेवा करना ही सब से उत्तम कार्य है। हे पिता ! इसकी अपेक्षा और कौन सा उत्तम कार्य हो सकता है ?

हिरण्यकशिपु प्रह्लाद के मुख से हरिभक्ति बढ़ाने वाले ये वाक्य सुन कर, और पुत्र को अज्ञानी समझ, हँस दिया और मन ही मन कहने लगा—"सुकुमार-मति बालकों की बुद्धि ऐसे ही औरों की बुद्धि से चलायमान होती है। इस समय इस बालक को गुरु के घर भेज देना उत्तम होगा और उनसे कहला दिया जाय कि वह अत्यन्त सावधानी से प्रह्लाद की रक्षा करें। कोई भी वैष्णव कपट वेश से उसकी बुद्धि को न बिगाड़ने पावे।"

एक सुविशाल दालान है। उसमें लम्बी लम्बी चटाइयां हैं। उन पर दैत्यों के बालक पट्टी बुतखा लिये लिख पढ़

रहे हैं। दालान के एक ओर बीच मे एक ऊँची चौकी पड़ी है । उस पर हाथ में एक लम्बी सटकी लिये गुरुजी बैठे हैं और बालकों को पढ़ा रहे हैं। प्रह्लाद जी जब पट्टी लेकर उनके सन्मुख पहुँचे, तब उन्होंने उनसे पूँछा :—

गुरु—बेटा प्रह्लाद ! यहाँ आओ। डरना नहीं । हमसे सच सच कहना। यह तो बतलाओ आज कल तुम्हारी मति किसने फेर दी है ? इस पाठशाला में इतने बालक पढ़ते हैं, और तो कोई नहीं बहका, तुम्ही क्यों ऊटपटाङ्ग बकते हो ? सच सच कहना, तुम्हारी बुद्धि किस ने बिगाड़ दी है अथवा अपने ही आप बिगड गयी है?

प्रह्लाद—(निर्भीक होकर)—जिनकी माया से लोगों को यह अपना है यह पराया है, इस प्रकार का मिथ्याज्ञान होता है, उन मायानाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ । जिस समय वे किसी पर प्रसन्न होते हैं, उस समय उसकी पशु-बुद्धि दूर होती है और उसे आत्मज्ञान होता है । अज्ञानी लोग उस परमात्मा को अपना या पराया जाना करते हैं, परन्तु भगवान् को इस प्रकार से अपना या पराया जानना उनके लिये असङ्गत नहीं है । क्योंकि उनका स्वरूप ही इतना दुर्बोध है कि समस्त वेदों के कर्त्ता ब्रह्मा जी भी उनको नही जान सकते । वे ही नारायण मेरी बुद्धि को फेरते हैं । जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को

खींचता है, वैसे ही नारायण जी की ओर मेरा चित्त अपने आप खिंचा चला जाता है । इसीसे मेरे भाव ऐसे हो रहे हैं ।

प्रह्लाद का यह उत्तर सुनते ही गुरु महाराज मारे क्रोध के जल उठे । वे कहने लगे दानव रूपी चन्दन वन मे यह कुलाङ्गार कण्टक वृक्ष हो कर जन्मा है , इस वन को उजाड़ने मे नारायण कुठार के समान है और यह पाषण्डी मानों उस कुठार का बेंट हैं । विना ताड़ना दिये इस दुष्ट को प्रबोध न होगा । यह पाषण्डी हमारा शत्रु है । इससे अवश्य ही हमारा अपयश होगा । इस प्रकार विचार गुरु ने साम, दाम, दण्ड, भेद की प्रसिद्ध चार नीतियों को काम में लाकर प्रह्लाद को त्रिवर्ग साधनोपयोगी शास्त्र पढ़ाये । फिर यह समझ कर कि मेरा शिष्य समस्त विषयो में पारदर्शी हो गया, उसे हिरण्यकशिपु के पास ले गये ।

पितृभक्त प्रह्लाद ने गुरु के उपदेशानुसार दैत्यराज के पास पहुँच कर, नम्रभाव से उनके चरणों की वन्दना की । दैत्यनाथ ने पुत्र को चरणों में पडा देख, उठा कर छाती से लगा लिया और आशीर्वाद दिया । फिर उसे गोद में बैठा कर, आनन्द के अश्रु बहाते हुए प्रह्लाद से कहा :—

हिरण्यकशिपु—बेटा ! तुम दीर्घायु हो । इतने दिनों तक गुरु की सन्निधि में रह कर, जो कुछ तुमने पढा है, उसमें जो श्रेष्ठ हो उसे तुम मुझे सुनाओ ।

प्रह्लाद—नारायण की कथा को सुनना, उनके गुण गाना, उन्हींका सदा स्मरण करते रहना, उनकी चरण-सेवा करना, अर्चन, वन्दन, दासत्व और

उनको आत्मसमर्पण करना, उनका ध्यान करना, इस नव लक्षणयुक्त भक्ति का अनुष्ठान ही सर्वश्रेष्ठ अध्ययन है।

पुत्र का यह उत्तर सुन, हिरण्यकशिपु क्रोध मे भर, गुरु से बोला —

हिरण्यकशिपु—रे दुर्म्मत ब्राह्मणाधम! तेरा यह कैसा व्यवहार है? तू शत्रु की ओर हो कर, मुझे तुच्छ समझता है और इस बालक को सारी असार बातें पढ़ाता है। तू हमारा परम शत्रु है। जिस प्रकार असाधु कपट वेश धारण कर, मित्ररूप से विराजमान रह कर, समय पडने पर विद्वेषादि प्रकाशित करते हैं, वैसा ही तू हमारा छद्मवेशी मित्र है।

गुरु—दैत्यराज! क्रोध को रोकिये, एक दुर्बल ब्राह्मण पर इतना क्रोध करना आपको शोभा नही देता। मुझ निर्दोष पर क्रोध न कीजिये। प्रह्लाद ने जो कुछ कहा है वह उसे किसी ने नही सिखाया। स्वभाव ही से इसकी ऐसी उलटी समझ है।

गुरु का उत्तर सुन दैत्यराज ने फिर पुत्र से पूछा —

हिरण्यकशिपु—मूर्ख! तेरी ऐसी उलटी समझ क्यों कर हुई? तुझे यदि किसी दूसरे ने ये उलटी पुलटी बाते नही सिखाई तो तुझे ये बातें किस प्रकार सूझी? यह बता।

प्रह्लाद—हे तात! संसार मे आसक्त लोगों का मन किसी प्रकार भगवान् में नहीं लगता। वे सदा इन्द्रियों

के सुख भोगने में लिप्त रहते हैं और बारम्बार इस संसार में आकर उन्हीं पुरानी बातों को चबाया करते हैं। यद्यपि सर्वव्यापी भगवान् सब ही प्राणियों में गूढ़ भाव से विराजमान हैं, तथापि जिन साधु महात्माओं ने विषय सुख को एक बार ही छोड़ दिया है, बिना उनसे उपदेश पाये पुरुष किसी प्रकार से भगवान् के चरण युगल की सेवा नहीं कर सकता।

यह सुनते ही हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को गोद से नीचे गिरा दिया और क्रोध में भर पार्श्ववर्त्ती अनुचरों से बोलाः—"रे असुरगण! शीघ्र ही इसको मार डालो। अभी इसे मेरे नेत्रों की ओट करो। यह कुलाङ्गार अपने सम्बन्धियों को छोड कर, दास के समान अपने पितृव्य के मारने वाले विष्णु के चरणों की पूजा करता है। कैसे दुःख की बात है! पाँच वर्ष के बालक ने बाप माँ की प्रीति छोड़ दी! पराया भी यदि अनुकूल आचरण करे तो अपना कहा जा सकता है और यदि अपने से उत्पन्न हुआ पुत्र भी प्रतिकूल व्यवहार करे, तो उसे शत्रु के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? जिस सोने से कान कटता हो, उसे लोग उतार कर फेंक देते हैं। अङ्ग में उत्पन्न दुःखदायी व्रण को कौन चिरवा कर नहीं दूर करता! अतएव मेरा यह अवश्य कर्त्तव्य है कि इस अबोध कुलघाती बालक का वध करवाऊँ।" पिता की ये सब बातें प्रह्लाद बैठे बैठे सुन रहे थे। दैत्येन्द्र का आदेश सुन दैत्यों ने महात्मा प्रह्लाद पर शूलों से उनके मर्मस्थानों पर आघात किया, परन्तु पापी के सत्कार्य्यों के समान उनके सारे प्रहार व्यर्थ गये। यह विचित्र लीला देख, हिरण्यकशिपु के मन में भय का सञ्चार हुआ।

हिरण्यकशिपु अपने औरस से उत्पन्न पुत्र को सचमुच अपना शत्रु समझने लगा। जिस प्रकार लोग अपने शत्रु के नाश के लिये अनेक उपाय करते है, वैसे ही वह भी अपने पुत्र के नाश के लिये अनेक प्रकार के उपायों को काम में लाने लगा। उसने महात्मा प्रह्लाद को हाथियों के पैरों के तले कुचलवाया, कुए में ढकिलवाया विष खिलवाया. अग्नि में जलवाया, पर्वत से पटक कर समुद्र में डुबवाया, पर प्रह्लाद तो भी न मरा! तब तो दैत्यराज को बड़ी चिन्ता उन्पन्न हुई। उन्हें चिन्ता-कुल देख, उनके गुरुपुत्र षण्ड और अमार्क ने दैत्येन्द्र को समझाते हुए कहाः—

गुरुपुत्र—हे दैत्यनाथ! आप चिन्ता क्यों करते हैं? आपकी भृकुटी की मरोर ही से इन्द्रादि लोक-पाल भय-भीत होते हैं, आपको तो किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होनी चाहिये। बालक प्रह्लाद आपका कर ही क्या सकता है? यदि आपको उससे बहुत ही डर है, तो जब तक हमारे पूज्यपाद पिता लौट कर न आवें, तब तक आप प्रह्लाद को वरुणपाश मे बॉध कर डाल दीजिये।

यह बात हिरण्यकशिपु के मन पर चढ गई और उसने वैसा ही किया। प्रह्लाद को वरुणपाश में बॉध कर, गृहस्थोचित. धर्म सिखलाने की आज्ञा दी। गुरुपुत्र प्रह्लाद को गार्हस्थ्य-धर्म सुनाने लगे और प्रह्लाद उसे सुनने लगे। परन्तु विषयानुरक्त गुरु के उपदेश का प्रभाव प्रह्लाद के मन पर कुछ भी न पड़ा। इस घटना के कुछ दिनों बाद गुरु जी किसी कार्यवश नगर छोड़, कहीं

देहात में गये। तब अवसर पाकर प्रह्लाद जी अपने सहपाठियों को भगवद्धर्म का उपदेश देने लगे। बालक खेल कूद छोड़ कर, प्रह्लाद का उपदेश मन लगा कर सुनने लगे। प्रह्लाद ने कहा.—

प्रह्लाद—मित्रो! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। फिर इस शरीर का कुछ ठिकाना भी नहीं है। आज है कल नहीं। इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि लड़कपन ही से भगवद्धर्म का अनुष्ठान आरम्भ करे। उस परम कारुणिक सर्वेश्वर के चरणो में मन लगाना ही प्रत्येक विचारशील जन का परम कर्त्तव्य है। क्योंकि वे सब प्राणियों के मित्र हैं और सब के रक्षक हैं। शरीर-धारियों को इन्द्रिय-सुख केवल दुःख ही जान पड़ता है। यह सुख पूर्वजन्म के कर्म-फल अथवा भाग्यवश, पशु भी भोग सकते हैं। अतएव भोग वासना में लिप्त होना, हम लोगों के लिये किसी प्रकार उचित नहीं। इससे लोगों की परमायु ही नष्ट होती है। जिस प्रकार सर्वेश्वर भगवान् के चरण कमलों की सेवा करने से निर्मल सुख का अनुभव होता है, विषय भोग में वैसा नहीं होता। अतएव जितने दिनों तक यह शरीर रहे उतने दिनों तक सर्वश्रेष्ठ और सर्व-मङ्गल-कारी सुख की प्राप्ति के लिये ही यत्न करना चाहिये।

इस प्रकार के सुन्दर सारगर्भित वाक्य दैत्य बालकों ने कभी न सुने थे। इस समय वे प्रह्लाद जी से भगवद्धर्म का

उपदेश सुन कर विस्मित हुए और उन्हें श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त हुआ। उनके गुरु जब बाहर से लौट कर आये, तब उन्होंने देखा कि जो रोग, उनके जाने के पूर्व, अकेले प्रह्लाद ही को था, उस रोग से अब उनकी पाठशाला के सभी विद्यार्थी आक्रान्त हो रहे हैं। सब विद्यार्थी हरि के भक्त हैं और लिखना पढ़ना छोड़ कर, परमतत्व के अनुसन्धान में संलग्न है। यह देख कर, गुरु जी बहुत डरे और हिरण्यकशिपु के पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनते ही दैत्यनाथ अत्यन्त क्रुद्ध हो प्रह्लाद को फटकारने लगा और उसने प्रह्लाद का मारना अपने मन में निश्चित कर लिया।

परमशान्त प्रह्लाद हाथ जोड़े अत्यन्त विनीत भाव से वहाँ बैठे रहे। हिरण्यकशिपु दैत्य था और स्वभाव ही से अत्यन्त निर्दयी था। उसने पदाहत सर्प के समान लम्बे लम्बे स्वाँस लिये। फिर वह भोंहे तान कर, प्रह्लाद से बोला :—

हिरण्यकशिपु—रे ढीठ! तू तो एक साथ ही असुर वंश का सर्वनाश करने को उद्यत हुआ है! तैने इस समय मेरी आज्ञा का निरादर कर, मौन धारण किया है। ठहर तो सही, तुझे क्षण भर मे यमराज का पाहुना बनाता हूँ। तू अभी मेरा प्रभाव नहीं जानता। मैं ही हूँ जिसके भय से त्रिभुवन के चरअचर सभी थर थर काँपते हैं। तुझमे ऐसी कौनसी शक्ति है कि तैने निडर चित्त से मेरी आज्ञा का खुलंखुला अनादर किया।

प्रह्लाद—हे तात! वे सर्वशक्तिमान भगवान् ही मेरे बल हैं, केवल मेरे ही क्यों, आपके तथा अन्य सब

बलवानों के भी बल है "सर्वै बलं बलिनाम् चापरेषाम्"। हे तात ! आप अपने आसुरी भाव को छोड कर, मन को शान्त कीजिये। अजित मन अपना घोर शत्रु होता है। मन को जीत कर, सौम्यभाव से रहना ही भगवान् की सर्वश्रेष्ठ आराधना करना है। हे पिता ! जिसने अपने शरीर की इन्द्रियों को न जीत कर दशों दिशाओं ही को क्यों न जीत लिया हो, तो भी उसका अभिमान करना वृथा है। किन्तु जो जितात्मा हो कर समस्त प्राणियो को समान देखता है, वही यथार्थ साधु है और उसका कोई शत्रु नहीं।

हिरण्यकशिपु—(क्रोध पूर्वक) रे मूढ ! तू मरना चाहता है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि मरते समय सभी की बुद्धि बिगड जाती है। रे मन्द ! तूने मेरे अतिरिक्त जो अन्य एक ईश्वर बतलाया है सो कह वह कहाँ है ?

प्रह्लाद—वह सर्वव्यापी ईश्वर सर्वत्र विराजता है।

हिरण्यकशिपु—यदि वह सर्वत्र ही है, तो इस खम्भे के भीतर क्यों नहीं है ?

प्रह्लाद—(खम्भे की ओर देख और स्तुति करके) यह देखिये ! खम्भे में भी वह विराजमान है।

दैत्यनाथ ने खम्भे में कुछ भी न देख कर, महा क्रोध में भर प्रह्लाद से कहा :—

दैत्यनाथ—रे पाषण्डी! तू मुझसे अब भी छल करता ही चला जाता है। मैं अब तेरा सिर काटता हूँ। तेरा नारायण देखें अब तेरी कैसे रक्षा करता है!

महावली पराक्रमी हिरण्यकशिपु ने इस प्रकार अनेक कुवाच्य कहे। फिर म्यान से तलवार निकाल कर खम्भे में एक घूँसा मारा। घूँसा मारते ही खम्भे में ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ मानों सारा ब्रह्माण्ड तड़क गया। हिरण्यकशिपु महात्मा प्रह्लाद का नाश करने को तरज गरज रहा था, परन्तु उस भयङ्कर शब्द को सुन वह भी चुप हो गया। इतने में देखते ही देखते, भक्त-भय-हारी मधुसूदन ने उग्र मूर्त्ति धारण की और उस दुष्ट के हाथ से भक्त प्रह्लाद को बचाने के लिये वे उसी खम्भे से प्रकट हुए। उनकी उस मूर्त्ति का आकार न तो पशु जैसा था और न मनुष्य जैसा। इससे वह मूर्त्ति और भी अधिक भयोत्पादिनी थी। उस नृसिंह मूर्त्ति को देख और अत्यन्त विस्मित हो दैत्यनाथ कहने लगा:

हिरण्यकशिपु--यह क्या? न तो यह सिंह है और न यह मनुष्य है? ऐसा विचित्र प्राणी तो आज तक मैंने कभी देखा ही नहीं।

उसकी बात पूरी भी नहीं होने पायी थी कि भगवान् नृसिंह उसके सामने आये। उसने हाथ में गदा ले उन पर आक्रमण किया। पतङ्गा जिस प्रकार दीपक पर गिरते ही लोप हो जाता है, उसी प्रकार वह दैत्य भी नृसिंह भगवान् के कोप में पड़ लुप्त हो गया। भगवान् ने हिरण्यकशिपु को पकड़ कर अपनी जाङ्घों पर रखा और अपने तीक्ष्ण नखों से उसका पेट चीर डाला। उस समय उनकी उस भयङ्कर

मूर्त्ति की ओर देखने से भी बड़ा डर लगता था। हिरण्यकशिपु के शरीर से निकले हुए रुधिर से उनका सारा शरीर लाल हो गया था और उसके पेट की आतें उन्होंने माला की तरह अपने गले में पहन ली थी। उस भयङ्कर मूर्त्ति के पास और तो और नित्यानुपायिनी जगज्जननी लक्ष्मी जी भी जाते हुए डरीं। तब ब्रह्मा ने प्रह्लाद जी को उनके निकट भेजा। प्रह्लाद जी जाकर भगवान् नृसिंह जी के चरणों में गिर पड़े। भक्तवत्सल दयानिधान ने झट उन्हे उठा लिया और उनके मस्तक पर अपना अभयहस्त फेरने लगे। भगवान् के हस्त-स्पर्श से उनके सारे अशुभ दूर हो गये। उन्हें तुरन्त ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ। वे गद्गद वाणी से भगवान् की स्तुति करने लगे:—

प्रह्लाद—ब्रह्मादि देवता गण, बहुत से वचनों द्वारा जिनकी स्तुति करने में असमर्थ है, उनकी स्तुति भला मैं बालक हो कर कैसे कर सकता हूं। पर मेरी समझ में, धन, सत्कुल में जन्म, तप, पाण्डित्य, इन्द्रिय-निपुणता, कान्ति, प्रभा, बल पौरुष, प्रज्ञा और योग—इनमें से कोई भी आपकी आराधना के उपयोगी नहीं है। क्योंकि आप तो केवल भक्ति ही से सतुष्ट होते हैं। इस शरीर में मन ही प्रधान है और इस मन को वश में करना अत्यन्त ही कठिन काम है। मन ही से विद्या की उत्पत्ति होती है। अविद्या द्वारा ही जीव संसार-पङ्क में फँसता है। आप ही इस मन के नियन्ता हैं। यदि आप कृपालु न हों, तो जीव कभी भी इस अपार संसार से पार नहीं हो सकता।

हे प्रभो ! आपका अवतार सदा सँसार के मङ्गलार्थ ही होता है। दत्यराज यद्यपि मेरे पिता थे, तथापि उनकी मृत्यु से त्रिभुवन अब उपद्रव रहित हो गया। इस समय सब आपके क्रोध दूर होने की वाट देख रहे हैं। आप शान्त हों !

हे परमात्मन् ! मैं अपने पिता का राज्य-भोग नहीं चाहता, न लोकपालों के ऐश्वर्य की कामना है। उनके ऐश्वर्य और उनकी सम्पति की मैंने परीक्षा ले ली। वे सब तुच्छ पदार्थ हैं। मैं तो आपके चरणों की भक्ति चाहता हूँ, जिसके विना भक्ति कदापि नहीं मिल सकती, अतएव आप मुझे अपने सेवकों में रहने का स्थान दीजिये।

यह सुन नृसिंह जी का क्रोध ठण्डा हुआ और प्रीति पूर्वक प्रह्लाद से बोले :—

नृसिंह—प्रह्लाद ! तेरा मङ्गल हो। मै तेरी स्तुति से बहुत प्रसन्न हुआ। अब तू जो वर माँगना चाहे माँग।

प्रह्लाद—भगवन् ! आप वर देने वालों में श्रेष्ठ हैं। यदि मुझ को आप साँसारिक वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में काम उत्पन्न न हो क्योंकि काम के उत्पन्न होने से इन्द्रिय, मन, प्रज्ञा, आत्मा, धर्म, धैर्य बुद्धि, लाज, श्री, तेज स्मृति और सत्य का एक साथ ही नाश हो जाता है।

नृसिंह—हे प्रह्लाद ! यद्यपि तुम्हारे समान मेरा एकान्त भक्त त्रिभुवन में नहीं है और तुम्हे किसी प्रकार के सांसारिक सुख की इच्छा नहीं है तथापि मेरी आज्ञा के अनुसार तुम इस लोक म रह कर, इस मन्वन्तर भर दैत्यराज के सिंहासन पर आसीन हो।

प्रह्लाद—आपकी जो आज्ञा । एक वर कृपया मुझे और दीजिये । आप जगदीश्वर और सब लोको के गुरु हैं—इस बात को मेरे पिता नही समझ सके थे। वे क्रोधवश हो अनेक प्रकार के भ्रम में पड गये थे। भाई का हन्ता समझ कर वे आपकी निन्दा किया करते थे। हे दीनवत्सल ! अब आप ऐसा कीजिये कि इन सब अमार्जनीय पापों से पिता का छुटकारा हो।

नृसिंह—हे असुरकुमार ! मेरे दर्शन से केवल तुम्हारा पिता ही पवित्र नहीं हुआ, किन्तु उसकी बीस पीढ़ियाँ पवित्र हो गयी। तुमने इस कुल में जन्म ले कर, इस कुल ही को पवित्र कर डाला। अब तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम अपने पिता की और्द्ध्वदैहिक क्रिया करो और शास्त्रों की आज्ञानुसार शासन करो।

यह कह कर नृसिंह जी अन्तर्द्धान हो गये और प्रह्लाद न्याय-पूर्वक शासन करने लगे।

शिक्षा।

इस उपाख्यान से बड़ी भारी शिक्षा यह मिलती है कि जो सत्य-मार्ग पर चलते हैं उनको अनेक प्रकार की विपत्तियाँ

का सामना ही नही करना पडता किन्तु कभी कभी अपने प्राण तक गँवाने पडते हैं। पर जो दृढ़-संकल्प होते हैं, वे इन कठनाइयों को तुच्छ समझ. अपने गन्तव्य-पथ से च्युत नही होते।

जिसको मन मान ले वही सत्य मार्ग है–यह भी बात नहीं सत्यमार्ग उसीको कहना चाहिये जिस पर चलने से प्राणी मात्र का भला हो।

प्रह्लाद ने जो धर्म्मोपदेश अपने सहपाठियों को दिया था, वह ध्यान देकर पढ़ने योग्य है। धन, जन और साँसारिक क्षणभङ्गुर सुखों के भोग की मृगतृष्णा में पड कर, अपने बनाने वाले को भी कभी न भूलना चाहिये। उसका स्मरण सदा करना ही कल्याण-प्रद है। दुःख पड़ने पर तो सभी ईश्वर को स्मरण करते हैं पर जो सुख में उस जगन्नियन्ता का स्मरण किया करते हैं उन्हें दुःख नहीं होता।

इस उपाख्यान से एक बात और भी सीखनी चाहिये। जो तुम्हारा अपकार करे उसका बदला तुम अपकार से न देकर उपकार से दो। हिरण्यकशिपु यद्यपि प्रह्लाद का पिता था, तथापि उसने भ्रम में पड उनके साथ घोर शत्रु जैसा व्यवहार किया किन्तु प्रह्लाद ने न तो कभी उसके इस कर्तव्य की अपने मुख से निन्दा की और न भगवान् से इसका बदला लेने के अर्थ प्रार्थना की, किन्तु जब अवसर मिला तब उन्होंने उसके कृत अपराधों के लिये क्षमा प्रार्थना ही की।

६-महाराज अम्बरीष और ऋषि दुर्वासा का उपाख्यान।

[अक्रोध से क्रोध की जीत।]

महाभाग अम्बरीष का राज इतना विशाल था कि उनके राज में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था किन्तु इतने भारी साम्राज्य के अधिपति होने पर भी अम्बरीष का शासन सर्वजन प्रिय था। उनकी अधीनस्थ प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था। महाराज को किसी वस्तु का अभाव न था। वे धन धान्य एवं जन में पूर्णकाम थे। यदि वे चाहते तो देव-दुर्लभ सुख भोग की सामग्री से अपनी सारी आयु भोग विलास ही में व्यतीत करते किन्तु उनको यह अभीष्ट न था। सप्तद्वीप युक्त ससागरा पृथ्वी के अधिपति होकर भी वे सांसारिक क्षणस्थाई सुखों के दास न बन कर, भगवान् की आराधना में सदा संलग्न रहते थे। भगवान् को प्रसन्न करने के लिये वे नित्य ही नाना प्रकार के जप तप, नेम व्रतों का अनुष्ठान किया करते थे। भगवान् के चरण कमलों में उनकी अचला भक्ति थी। भगवान् उनको अपना भक्त कर, सदा उनकी रक्षा किया करते थे।

उन्होंने एक बार एक वर्ष तक द्वादशी का व्रत धारण किया। जब व्रत पूरा हुआ, तब तीन दिन लों उपवास कर, एक दिन वे मधुवन मे बैठे यमुना तट पर भगवान् का आराधन कर रहे थे। इतने में महर्षि दुर्वासा वहाँ जा निकले। उनको देखते ही अम्बरीष ने आसन छोड दिया और खड़े होकर उनकी यथोचित अभ्यर्थना की। अनन्तर बड़ी नम्रता से महाराज ने दुर्वासा से प्रार्थना की कि आप आज यहीं भोजन करे। दुर्वासा ने भोजन करना स्वीकार किया और आन्हिक करने को वे यमुना तट पर चले गये। स्नान, सन्ध्या कर वे गायत्री का ध्यान करने लगे। ध्यान करने में उन्हे कुछ विलम्ब हुआ, उधर द्वादशी केवल अर्द्ध मुहूर्त्त रह गयी। इस धर्म सङ्कट में पड, महाराज ने अन्य ब्राह्मणों से परामर्श लिया। वे बोले:—

अम्बरीष—ब्राह्मण का निरादर करना बडा भारी पाप है। साथ ही द्वादशी का पारण न करने से भी दोष लगता है। इस समय जिससे मेरा मङ्गल हो और मुझे पाप न लगे, वही मुझे करना चाहिये। मुझे तो यही उचित जान पडता है कि इस समय केवल जलपान ही करके पारण करलूँ। क्योंकि ब्राह्मण-गण जलपान को भोजन करना भी कहते हैं और उपवास भी बताते हैं।

ब्राह्मणो की अनुमति से अम्बरीष ने जलपान कर लिया और ऋषि दुर्वासा के लौटने की बाट देखने लगे। बहुत देर नहीं होने पायी थी कि दुर्वासा ऋषि आते हुए दीख पडे। राजा को देखते ही दुर्वासा ताड गये कि अम्बरीष ने जलपान कर लिया है। बस फिर क्या था, मारे क्रोध के उनका शरीर कॉपने लगा।

यह देख महाराज सिटपिटाये और हाथ जोड़ कर उनके सामने खड़े होगये , किन्तु दुर्वासा का क्रोध तो भी न गया, वे ब्राह्मणों को सम्बोधन कर कहने लगेः—

दुर्वासा—देखो तो यह नराधम अपने ऐश्वर्य के मद में कैसा मतवाला हो रहा है ॥ इस निर्लज्ज का धर्म-भ्रम देखो, इसे कौन विष्णु-भक्त कहता है ! यह तो विष्णुद्वेषी है । अपने को ईश्वर समझ मारे अभिमान के फूला जाता है । मैं इसका अतिथि होकर आया था । इसने स्वय मुझे भोजन करने के लिये आमंत्रित किया और मुझे भोजन कराये विना ही इसने स्वय भोजन कर लिये ।

इतना ब्राह्मणों से कह दुर्वासा ने अम्बरीष से कहा—"अच्छा ले तुझे इसका फल अभी चखाता हूँ ।"

यह कह कर वे क्रोध में भर गये और अपनी जटा का एक बाल उखाड कर पृथिवी पर पटका, जिससे कालाग्नि के समान कृत्या उत्पन्न हुई । वह उत्पन्न होते ही अम्बरीष की ओर लपकी । उसके हाथ में नङ्गी तलवार थी और चरणों से पृथिवी को कम्पायमान करती चली जाती थी । राजा अम्बरीष उसे अपनी ओर आते देख कर भी विचलित न हुए । वे ज्यों के त्यों जहाँ के तहाँ खड़े रहे ।

इतने में भगवान् का सङ्केत पाकर उनका सुदर्शन चक्र अम्बरीष की रक्षा के लिये छूटा । उसने देखते ही देखते उस कृत्या को भस्म कर डाला और दुर्वासा की ओर लपका । चक्र अपनी ओर आते देख और अपने प्रयोग को निष्फल हुआ

देख, वे वहाँ से भागे। वे आगे आगे भागते थे और चक्र उनके पीछे पीछे भागता था। प्राण बचाने के लिये दुर्वासा ने ऐसा कोई सुरक्षित स्थान न छोड़ा, जहाँ वे न गये हों, किन्तु कहीं भी उनके प्राण की रक्षा न हो पायी। अन्त में वे ब्रह्मलोक में पहुँचे और ब्रह्माजी के सामने अपना दुखड़ा रोया। सब सुन कर ब्रह्मा ने कहा,—"हमारी इतनी सामर्थ नहीं कि हम सुदर्शन चक्र से तुम्हारी रक्षा कर सकें।" ब्रह्मा से कोरा उत्तर पाकर दुर्वासा कैलास पर शिवजी के निकट गये। परम भगवत शिवजी ने भागवतापचार का वृत्तान्त सुन, दुःख प्रकट किया और कहा —

शिवजी—हे वत्स! नारायण महान हैं। हम उनके ऊपर प्रभुता नहीं कर सकते। हम लोग ब्रह्म रूपी जीवों के उपाधिभूत हैं। ये जो ब्रह्माण्ड दिखलाई पड़ते हैं, ऐसे सहस्रों ब्रह्माड जिन परमेश्वर के द्वारा उत्पन्न और लीन होते हैं, और मैं, सनत्कुमार, नारद, ब्रह्मा आदि जिनकी माया नहीं जान सकते, सुदर्शन चक्र उन्हींका शस्त्र है। इसको हम स्वय नहीं सह सकते। हमारा कहना मानो तो एक काम करो। तुम अब श्रीपति की शरण में जाओ, वे ही तुम्हारी विपद् दूर कर सकते हैं।

सुदर्शन की लपटों से विकल हो, दुर्वासा सब से निराश हो वैकुण्ठ मे पहुँचे और वैकुण्ठनाथ के चरणों में गिर कर कहने लगे:—

दुर्वासा—हे प्रभो ! हे विश्वभाजन ! मुझसे अपचार बन पड़ा है । मैंने आपकी महिमा को न जान कर आपके प्रियजन को कष्ट दिया । हे विधाता ! अब मुझे छुटकारा दीजिये । नारकी जीव भी आपका नाम लेते ही पाप से मुक्त हो जाता है ।

वैकुण्ठनाथ—हे ब्राह्मण ! मैं परवश हूँ । मैं सोलहों आने अपने भक्तों की मुट्ठी में हूँ । मुझे भक्तजनों से बढ़ कर और कोई वस्तु प्रिय नहीं है । उनका मेरे हृदय पर पूरा अधिकार है । मैं अपने भक्तों के सामने स्वयं अपने को और लक्ष्मी को भी नहीं चाहता । जिन भक्तों ने अपनी स्त्री, अपने पुत्र, घर आत्मा प्राण, धन और लोक, परलोक सभी को मेरे ऊपर छोड़ रखा है और मेरे शरण में आये हुए हैं, वे भक्त भला मुझसे किस प्रकार छूट सकते हैं । मेरे भक्त मुझे छोड़ और किसी को नहीं जानते-- मैं भी इसीसे उन्हें छोड़ और किसी को नहीं जानता । इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण की मुक्ति विद्याध्ययन और तप करने से होती है, पर जो अन्यायी ब्राह्मण हैं, वे नरक में गिरते हैं । इस लिये हे ब्रह्मवर ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम नाभाग के पुत्र अम्बरीष के पास जा कर क्षमा माँगो । तुम्हारा कल्याण होगा ।

सुदर्शन चक्र से सन्तापित दुर्वासा भगवान् की आज्ञा पाकर अम्बरीष के पास गये और दौड़ कर उनके चरण पकड़ लिये । ऋषि को ऐसा करते देख महाराज अम्बरीष मन ही मन

बहुत लज्जित और दुःखी हुए। दु खित हो सुदर्शन जी महाराज की स्तुति की। स्तुति सुन कर सुदर्शन जी ने ऋषि का पिण्ड छोडा। तब दुर्वासा बहुत प्रसन्न हुए और महाराज को आशीर्वाद दे कर कहाः—

दुर्वासा—हे भक्तों में श्रेष्ठ! मैंने आज भगवान् के भक्तों की महिमा प्रत्यक्ष देखी। राजन्! आप धन्य हैं। आप अपने अपकारी का भी भला ही चाहते हैं। जिसने साक्षात् भगवान् को अपने वश में कर रखा है वह क्या नही कर सकता? आप बडे कोमल हृदय के हैं। आपने मेरे ऊपर अनुग्रह कर मेरा अपराध विसारा और मेरे प्राण बचाये।

अम्बरीष ने अभी तक भोजन नही किये थे। अतः अब उन्होंने दुर्वासा के चरण पकडे और उन्हे प्रसन्न कर, भोजन कराये। दुर्वासा भोजन करके विदा हुए। फिर राजा ने भोजन किये। अम्बरीष ने इसी प्रकार भगवद्भक्ति में अपना समय बिताया और अन्त में राजपाट पुत्रों को सौंप, भगवद्भजन करने के लिये वे वन में चले गये।

शिक्षा।

कितना ही ऐश्वर्यशाली क्यों न हो, पर उन भगवान् को कभी न भूले जिनके अनुग्रह से सारा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। जो समृद्धशाली नहीं हैं और भगवान् के नामोच्चारण से जब वे भी धन-धान्य-युक्त हो जाते हैं तब जो धन-धान्य से युक्त

हैं वे यदि उस दशा में भगवान् को न भूलें, तो भगवान् उनकी अम्बरीष की तरह सदा स्वयं रक्षा किया करते हैं।

दुर्वासा के चरित्र से यह शिक्षा हमको अवश्य ही लेनी चाहिये कि क्रोधी मनुष्य को सदा पीछे पछताना पड़ता है और नीचा देखना पड़ता है। किसी बात का भली भाँति अनुसन्धान किये बिना कभी क्रोध न करना चाहिये। यदि क्रोध करने का कारण भी उपस्थित हो, तो भी क्रोध को रोकना चाहिये। क्योंकि क्रोध सब पापों का मूल है। ऐसा कोई अनकरना काम नहीं जो क्रोधी न कर सके।

१०-श्री हरिश्चन्द्र और शुनःशेप का उपाख्यान ।

[स्वार्थतत्पर व्यक्ति दोषों पर दृष्टि नही डालते ।]

महाराज हरिश्चन्द्र की अयोध्या राजधानी थी। आप महाराज सत्यव्रत उपनाम त्रिशङ्कु के पुत्र थे । आप बड़ी बुद्धिमानी से राजकाज चलाते थे। आपको भगवान् ने सब प्रकार से सुखी कर रखा था, किन्तु यदि आपको कोई अभाव था, नो सन्तान का । इस अभाव को मेटने की उन्हें सदा चिन्ता बनी रहती थी। जब इस प्रकार बहुत दिन बीत गये, तब एक दिन हरिश्चन्द्र ने अपने कुलगुरु वसिष्ठ जी के पास जा कर कहा --

हरिश्चन्द्र—हे कुलगुरु! आपसे हमारे घर का कोई हाल नही छिपा । आप सब कुछ जानते है। मुझे जो अहर्निश चिन्ता रहती है, उसका कारण भी आपको विदित ही है ।शास्त्र कहता है कि पुत्र-हीन मनुष्य की गति नहीं होती । यह जान कर भी आपकी मुझ पर कृपा क्यों नहीं होती ? आप

मंत्रविद्या में पारङ्गत होने पर भी इस अभाव को मिटाने का उपाय क्यों नहीं करते? सच तो यह है कि मेरा बड़ा मन्दभाग्य है। मुझसे कहीं बढ़ कर भाग्यवान् तो वे गोरीले पक्षी हैं, जो अपने बच्चों का मुख देखा करते हैं, पर आपका दास हो कर भी मेरी यही शोच्य दशा रहै, यह मेरे लिये बड़ी लज्जा की बात है।

महात्मा वसिष्ठ जी के मन पर हरिश्चन्द्र की बातों का बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ क्षणों तक वे चुपचाप कुछ सोचते रहे, अनन्तर वे बोले:—

वसिष्ठ—राजन्! आप कुछ दिनों वरुण देवता का आराधन कीजिये। सन्तान-दाताओं में वरुण से बढ़ कर अन्य कोई देवता नहीं है। उनका आराधन करने से आपकी मनोकामना पूरी होगी।

अपने कुलगुरु महाराज वसिष्ठ के उपदेशानुसार महाराज हरिश्चन्द्र ने जाकर गङ्गा तट पर आसन जमाया और वरुण देव का मन लगा कर आराधन करने लगे। जब वरुण देव की उपासना करते करते बहुत दिन बीते तब वरुण देव राजा पर प्रसन्न हुए और प्रत्यक्ष हो उनसे कहा—'वर मांगो"। राजा बोले--"हे देव! आपतो अन्तर्यामी हैं, मेरे मन की सब कामनाओं को जानते है। मै सन्तानहीन हूँ, अत. पितृ और देव ऋण से दबा हुआ हूँ। ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरा उद्धार हो"। यह सुन वरुण जी ने हँस कर कहा—'राजन' यदि तुम अपने पुत्र को पशु बना कर, यज्ञ में भेंट करो, तो हम तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करें"। अर्थी हरिश्चन्द्र ने आगा

पीछा विचारे विना ही वरुण देव का प्रस्ताव स्वीकृत किया। काल पाकर महाराज की राजमहिषी गर्भवती हुई और उनकी कोख से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। पुत्र के जन्मने का वृत्तान्त सुन हरिश्चन्द्र के आनन्द की सीमा न रही। इस आनन्द के उपलक्ष्य में उन्होंने अपार धन बाँटा। मँगतों को अयाचक कर दिया।

इतने में वरुण देव ने महाराज को यज्ञ का स्मरण दिलाया। राजा ने कहा:—

हरिश्चन्द्र—हे देव! मैं अपनी प्रतिज्ञा को भूला नहीं हूँ, किन्तु दस दिन तक बालक अशुद्ध रहता है।

यह सुन वरुण देव चले गये और दस दिन बाद आकर उन्होंने राजा को उनकी प्रतिज्ञा को पुन स्मरण कराया। उस समय हरिश्चन्द्र ने कहा—"देव! विना दाँत का पशु पवित्र नही होता"। यह सुन वरुण जी फिर चले गये और जब उस लडके के दाँत भी निकल आये तब वे फिर आये। इस बार राजा ने कहा--"धर्म जानने वाले गर्भ के बालों को अशुद्ध बतलाते हैं"। यह सुन वरुण जी फिर लौट गये। जब उस बालक का मुण्डन होने लगा उस समय वे फिर आये और राजा से बोले—'अब यज्ञ आरम्भ कीजिये"। इतना सुनते ही महाराज की सारी सुध बुध जाती रही। कुछ क्षणों बाद प्रकृतिस्थ हो उन्होंने वरुण देव को प्रणाम किया और अर्घ्य पाद्य आदि से उनका विधिवत् पूजन किया। अनन्तर वे कहने लगे —

हरिश्चन्द्र—हे वरुण देव! मैं आपकी आज्ञानुसार, इस समय यज्ञ करने को प्रस्तुत हूँ, पर एक बात है

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की द्विजाति संज्ञा है। यह संज्ञा इन तीनों की उसी समय होती है, जब इनका उपनयन संस्कार हो चुकता है। नहीं तो ये शूद्र ही गिने जाते हैं। स्मृतियों में ब्राह्मणों के लिये आठवाँ, क्षत्रियों के लिये ग्यारहवाँ और वैश्यों के लिये बारहवाँ वर्ष उपनयन के लिये विहित काल निर्दिष्ट किया गया है। यदि इस दास पर आपकी कृपादृष्टि हो तो इस बालक का उपनयन संस्कार भी हो जाने दीजिये। फिर मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार धूमधाम से यज्ञ करूँगा। आप मेरी बात को अन्यथा न समझिये।

यह सुन वरुण देव अपने लोक को चले गये।

जब ग्यारह वर्ष की अवस्था में राजकुमार का उपनयन संस्कार भी हो चुका, तब वरुण देव पुन प्रकट हुए। राजा ने उनका आगत स्वागत किया और प्रणाम पूर्वक कहा :—

हरिश्चन्द्र—हे देव ! आपके अनुग्रह से राजकुमार का उपनयन संस्कार हो चुका। अब यज्ञ करने में कुछ भी रुकावट नहीं है। मैं यज्ञ करने के अर्थ प्रस्तुत हूँ और बड़े समारोह से यज्ञ करूँगा। पर आप जानते हैं कि जब तक उपनयन का एक अङ्ग समावर्त्तन न हो ले, तब तक उपनयन संस्कार अधूरा ही समझा जाता है। अतः कुछ दिनों तक आप मुझे और क्षमा कीजिये।

इस बार वरुण देव धैर्य्य छोड़ कर, कहने लगे :—

वरुण—आप पुत्र के स्नेह में डूब कर, हमें कई बार टाल चुके हैं और हरेक बार आप एक न एक बहाना बना दिया करते है। अच्छा, इस बार तो हम और लौटे जाते हैं, पर अब की बार समावर्त्तन के समय हम आपकी एक भी बात न मानेंगे।

यह कह वरुण देव अन्तर्द्धान हो गये।

जब राजकुमार के समावर्त्तन का समय उपस्थित हुआ, तब राजा ने डर कर यज्ञ का कार्य भी आरम्भ करवा दिया। यज्ञ का कार्य ज्यों ही ज्यों अग्रसर होता था त्यों हीं त्यों राजा के मन की चञ्चलता एवं विकलता बढ़ती जाती थी। इस समय राजकुमार भी सब समझने बूझने लगा था। जब उसे यह बात विदित हुई कि वह पशु बना कर, उस यज्ञ में मारा जायगा और पिताजी को विकलता का यही कारण है, तब वह नगर छोड़, वन में निकल गया। पुत्र के इस प्रकार भाग जाने पर महाराज और भी अधिक खिन्न हुए। राजकुमार की खोज में अनेक निपुण गुप्तचर भेजे गये, पर उसका कुछ भी पता न चला। इतने में वरुण देव भी आ पहुँचे और राजा से पूँछाः—

वरुण—राजन्! यज्ञ करने मे अब कौनसा अटकाव है?

हरिश्चन्द्र—(हाथ जोड़कर) हे देव! राजकुमार विना मेरी आज्ञा घर से भाग गया। मैंने उसे बहुत ढुढ़वाया, पर अभी तक उसका कुछ भी पता नहीं चला। अब आप जो आज्ञा दें मैं उसके अनुसार कार्य करने को सब प्रकार से प्रस्तुत हूँ।

यह सुनते ही वरुण देव क्रोध में भर गये और बोलेः—

वरुण—रे नराधम ! तूने हमें कई बार धोखा दिया, अतः मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू जलोदर रोग से पीडित हो ।

इस प्रकार राजा को शाप दे वरुण देव अन्तर्द्धान हो गये और राजा को जलोदर ने आ घेरा ।

जब वन में राजकुमार ने इस घटना का वृत्तान्त सुना, तब वह पिता का कष्ट दूर करने को उद्यत हुआ, किन्तु इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप बना, उसे रोक दिया और कहा –

ब्राह्मण—हे राजपुत्र ! तू बडा मूढ है । नीति तो तुझे छू कर भी नहीं निकली । तेरा पिता वैदिक ब्राह्मणों से यज्ञ करा कर तुझे पशु की तरह मार कर, तेरा मांस होम देगा । इस संसार में ऐसा कौन देहधारी जीव है, जिसे अपने प्राण और शरीर पर ममता नहीं है । देख न, तेरे पिता को निज शरीर पर कितनी अधिक ममता है कि वह अपना रोग छुडाने को अपने एकमात्र पुत्र का वध करने को उद्यत है । अतः तुझे उचित है कि जब तक राजा जीवित रहे तब तक तू भूल कर भी उसके पास न जाना ।

राजकुमार एक वर्ष तक उसी वन में छिपा रहा । किन्तु जब उसने सुना कि पितृदेव जलोदर की व्याधि से असह्य कष्ट सह रहे हैं, तब उस पर न रहा गया । उसने निश्चय किया कि प्राण भले ही चले जाँय, पर पिता का कष्ट अवश्य दूर होना चाहिये । वह जाने को उद्यत ही था कि इन्द्रदेव फिर बूढ़े ब्राह्मण का वेष धारण कर, पहुँचे और अनेक प्रकार से समझा बुझा कर, इस बार भी राजकुमार को पिता के निकट न जाने दिया ।

उधर राजा का रोग इतना बढ़ा कि लोग उनके जीवन की आशा से हाथ धो बैठे। अन्त में वे अपने गुरु वसिष्ठ जी के घर पर गये और हाथ जोड़ कर कहने लगेः—

हरिश्चन्द्र—गुरुदेव! बहुत सहा, अब नहीं सहा जाता। अब कोई ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मैं इस जघन्य व्याधि से छुटकारा पाऊँ।

वसिष्ठ—राजन्! अब एकमात्र उपाय इस रोग से छुटकारा पाने का यह है कि तुम किसी के लड़के को मोल लेकर यज्ञ पूरा करो। ऐसा करने से तुम आरोग्य हो सकते हो। शास्त्र में दस प्रकार के पुत्र लिखे हैं। उन दसों में क्रीत-बालक की भी पुत्र संज्ञा मानी गई है। अतः ऐसे क्रीत-बालक को पुत्र बना कर, आप अपना काम चला सकते हैं। बालक मिलने में भी आपको अड़चन न होगी। क्योंकि रुपयों का लालच बुरा होता है, रुपयों के लालच में पड, कोई न कोई अपना पुत्र बेच ही डालेगा।

वसिष्ठ जी के कथनानुसार राजा बालक को खोजने लगे, खोज करते करते उन्हे पता मिला कि उन्हीकी अमलदारी में बसने वाला अजीगर्त नामक एक लुब्ध ब्राह्मणाधम है। उसके तीन बेटे हैं। अत. उससे एक बालक को मोल लेने की बात चीत की। ब्राह्मण के पहले पुत्र का नाम शुन पुच्छ, दूसरे का शुन शेप और तीसरे का शुनःलाङ्गूल था। उसने सौ गऊओ के लालच में पड़, अपने मध्यम पुत्र शुन शेप को राजा के हाथ बेच डाला। क्योंकि बड़े लड़के को तो उसने काम काज का समझा और सब से छोटे पर उसका स्नेह अधिक था। बीच के लड़के को उसने

फालतू समझा। किसी ने ठीक कहा है—'एक कङ्गाल सौ चाण्डालों के बराबर होता है।' कङ्गाल मनुष्य जो न कर डाले वही थोड़ा है।

बालक मिलने पर, राजा ने यज्ञ की तयारियाँ कीं। इस यग में ब्रह्मज्ञानी यमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा, और अयास्य मुनि उद्गता हुए थे। जिन हरिश्चन्द्र का महात्मा यश गाया करते हैं उन्हीं हरिश्चन्द्र ने नरमाँस से वरुण यज्ञ करना निश्चित किया। शुनःशेप यज्ञपशु बनाया गया और यज्ञस्तम्भ में रस्सी से जकड़ कर, बाँध दिया गया। मारे जाने के भय से वह बालक बुरी तरह बिलख बिलख कर रोता था। उसे देख यज्ञ कराने वाले और दर्शक सभी रोते थे। जब पशु के मारने का समय आया, तब शुनःशेप रूपी पशु को मारने के लिये शमिता से कहा गया। शमिता का हाथ ही उस बालक पर न उठा। वह तलवार को एक ओर फेंक कर कहने लगा—"मैं बुरी तरह क्रन्दन करते हुए इस ब्राह्मणकुमार को, धन के लालच में पड़, कभी न मारूँगा। मेरा काम पशु मारने का है, मनुष्य मारने का नहीं।" इतना कह वह शमिता अपने स्थान पर जा बैठा।

तब राजा ने उपस्थित लोगों से पूँछाः—

हरिश्चन्द्र—अब क्या किया जाय? बड़ी कठिनता से तो यह नरपशु मिला, अब शमिता नहीं मिलता।

बालक का चिल्लाना और रोना सुन तथा राजा का प्रश्न सुन, यज्ञ कराने वाले और दर्शक सभी रो उठे। राजा के प्रश्न का किसी ने उत्तर न दिया। तब दर्शकों के पास बैठा हुआ शुनः- का पिता अजीगर्त खड़ा होकर कहने लगा—

अजीगर्त—राजन्! आप चिन्ता न करें, मैं आपका काम करूँगा। पर पशु मारने वाले की जो निर्दिष्ट दक्षिणा है, उससे दूनी दक्षिणा लूँगा। आप मेरी दक्षिणा दिलाइये, मैं अभी इस पशु को मार कर आपका कार्य पूरा करता हूँ। जब मैंने उसे बेच ही डाला तब उसे मार डालने ही मे मुझे अटकाव ही क्या रह गया? संसार मेरी भले ही निन्दा करे, पर धीमान् पुरुष अपने कार्य को बनाते है।

इतना कह कर उसने तलवार उठाली और अपने पुत्र का वध करने को वह आगे बढ़ा।

उस लोभी नराधम ब्राह्मण की निठुरता देख सब उपस्थित जन हाहाकार करने लगे और उससे बोले:—

सब जन—अरे दुष्ट! अरे पिशाच! तूने ब्राह्मण कुल में जन्म ले क्यो इस पवित्रकुल को कलङ्कित किया? अरे अधम चाण्डाल! यदि पुत्र का वध करने से तुझे धन ही मिला, तो उस धन से तू क्या सुख भोग सकता है?

उपस्थित जनो को विकल देख, महात्मा विश्वामित्र से न रहा गया। वे उठे और सीधे हरिश्चन्द्र के पास जाकर कहने लगे:—

विश्वामित्र—राजन्! आप उस दीन रोते हुए बालक को छोड़ दीजिये। आपका यज्ञ भी साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जायगा और आप आरोग्य भी हो जायँगे। आप जानते हैं संसार में जीव-दया से बढ कर कोई शुभकर्म नहीं है और हिंसा से बढ कर कोई

दुष्कर्म नही है। आप सदा इस संसार में इस शरीर को ले रह नहीं सकते। यह शरीर नाशवान् है। इस पाप पूरित क्षण-भङ्गुर शरीर की रक्षा और सुख के लिये आप एक निर्दोष ब्राह्मण-कुमार का वध क्यों करवा रहे हैं? जो विचारशील एवं न्याय-प्रिय-जन है, वे निज दुःख सुख के समान ही दूसरों के सुख दुःख को समझा करते है। प्रत्येक प्राणी अपने प्राण की रक्षा चाहता है। यदि कोई नीचानुसन्धान वाला नराधम अपने स्वार्थ साधन के निमित्त, किसी निर्दोष का वध करे या करावे, तो अगले जन्म मे वह निर्दोष-जन उससे बदला लिये विना नही रहता। राजा का का धर्म है कि वह देखे कि उसके राज्य में कोई पापानुष्ठान तो नही कर रहा। यह इस लिये कि प्रजा के पाप पुण्य के छठवें हिस्से का राजा अधिकारी होता है। आपका कर्त्तव्य ही नहीं, किन्तु धर्म था कि आप अपनी अमलदारी में मनुष्य-विक्रय की प्रथा को बन्द करते, न कि आप स्वयं एक दीन ब्राह्मण-कुमार को मोल ले कर उसका वध कराने को उद्यत होते! राजन्! आपका जन्म पुण्यश्लोक सूर्य वंश में हुआ है। आपका प्रत्येक कार्य निस्स्वार्थ और धर्ममूलक होना चाहिये। आपको विदित ही है कि आपके पिता को स्वार्थ के वशीभूत हो, चाण्डाल होना पड़ा था, तिस पर भी हमने उन्हें सदेह स्वर्ग भेजा। आप उन्हींके पुत्र हैं--पर आप हमारी एक

छोटी सी बात नही मानते। यदि आप हमारा कहना मान कर इस बालक को छोड़ दें, तो आपका रोग भी छूट जायगा और आप पुण्य के भागी भी होंगे। यज्ञ उसी यजमान का पूरा होता है जो प्रत्येक ब्राह्मण की कामना को पूरी करता है। मेरी अभिलाषा यही है कि आप इस क्रन्दन करते हुए दीन बालक को छोड़ दें। राजन्! समझ रखिये कि यदि आप मेरा कहना न मानेंगे, तो आप पाप के भागी होंगे।

विश्वामित्र जी ने राजा को समझाने बुझाने में कोई बात उठा नही रखी, पर जो स्वार्थ का दास बना हुआ है, उसे मित्रों का हितोपदेश भी बुरा ही जान पडता है। राजा इस समय अर्थी था इसीसे उसने विश्वामित्र की बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया। उसने कहा:—

हरिश्चन्द्र -तपोधने! मैं जलोदर रोग से अत्यन्त पीड़ित हूँ। अत मैं इस यज्ञपशु को छोड़ कर, यज्ञ में स्वयं विघ्न उपस्थित करना नहीं चाहता, आप मुझे क्षमा करें और मुझ पर कुपित न हों।

राजा से इस प्रकार का कोरा उत्तर पाकर, महात्मा विश्वामित्र, क्रोध और दया से उत्पन्न दुःख में भर कर, कुछ क्षणों तक मन ही मन में कुछ विचार करने लगे। उन्होंने राजा से फिर कहना सुनना निष्फल समझा और वे उस यज्ञ-स्तम्भ की ओर झपटे जिससे वह ब्राह्मण-कुमार रस्सी से बँधा हुआ पडा था। आपने उसे धैर्य्य दे कर, कहा —

विश्वामित्र—वत्स! घबडाना मत। यह रोने का समय नहीं है। यदि प्राण बचाना हो तो जो मैं कहता हूँ सो कर। मैं तुझे जो मंत्र बतलाता हूँ, उसे शुद्ध शुद्ध मन में जप। इस मन्त्र के प्रभाव से तेरा कल्याण होगा।

उस बालक ने विश्वामित्र जी के बतलाये मंत्र का शुद्ध जप एकाग्रमन से किया। जप करते ही वरुण देव उस पर प्रसन्न हुए और प्रकट हुए। उन्हे खड़ा देख राजा हरिश्चन्द्र झट उनके पैरों पर गिर पडे और उनकी स्तुति करने लगे। तब वरुण देव ने राजा को सम्बोधन करके कहा —

वरुण—हे राजन्! इस दीन बालक को अभी छोड दे। तेरा यज्ञ पूरा हुआ। तेरा रोग भी अब जाता रहेगा।

इतना कह वरुण देव वहीं अन्तर्द्धान हो गये। राजा ने तुरन्त उस बालक को छोड दिया। साथ ही साथ राजा को रोग ने छोड़ दिया। तब वह बालक हाथ जोड कर सब से पूँछने लगा —

शुनःशेप—आप लोग अब शास्त्र द्वारा इस बात का निर्णय करें कि अब मैं किसका पुत्र हूँ और कहाँ जाऊँ?

इस पर झट एक मनुष्य कहने लगा। तू अजीगर्त का पुत्र है, जिसने तुझे पैदा किया। यह सुन वामदेव को क्रोध चढ आया और वे झल्ला कर कहने लगे, —

वामदेव—कभी नहीं। अजीगर्त तो उसे बेच चुका। अब यह या तो राजा का क्रीतपुत्र कहला सकता

है अथवा वरुण का, जिन्होंने इसे बन्धन से छुड़ाया है।

वामदेव की इस व्यवस्था पर तत्रस्थ उपस्थित विद्वानों में कुछ देर तक वादविवाद हुआ—अन्त मे वसिष्ठ जी ने कहा —

वसिष्ठ—सुनो भाइयो! जब अजीगर्त ने पुत्रस्नेह परित्याग कर, और धन के लोभ में पड़, शुन शेप को बेच डाला, तब अजीगर्त का शुनःशेप के साथ कोई सम्बन्ध न रहा और हरिश्चन्द्र के साथ उसका पिता-पुत्र का सम्बन्ध हो गया। पर यह सम्बन्ध उसी समय तक था जब तक वह वधार्थ खम्भे में नहीं बाँधा गया था। वरुणदेव ने मंत्र के प्रभाव से उसे छुड़वाया। यह साधारण बात है। यदि कोई किसी देवता का मंत्र जपे, तो वह देवता उस पर प्रसन्न होता ही है और प्रसन्न हो कर उसका अभीष्ट पूरा करता है। अत यह बालक वरुण का भी पुत्र नहीं हो सकता। जिन महात्मा विश्वामित्र जी ने इसे मंत्रोपदेश किया और इस उपाय से उसके प्राण बचाये, मेरी समझ में तो यह बालक उन्हींका पुत्र हुआ।

महात्मा वसिष्ठ जी का यह यथार्थ निर्णय सुन, सब लोग एक स्वर से बहुत ठीक, बहुत ठीक कहने लगे। तब विश्वामित्र जी ने शुन शेप को दहिने हाथ से पकड़ लिया और स्नेह-पूर्वक उससे कहा .—

विश्वामित्र—आओ वत्स! तुम मेरे साथ मेरे घर चलो।

यह सुन शुनःशेप ने महात्मा विश्वामित्र की पदरज अपने मस्तक पर मली और प्रसन्न वदन उनके घर चला गया। यज्ञ पूर्ण हुआ। यज्ञ कराने वालों को बहुत सी दक्षिणा दे कर राजा ने विदा किया। वे लोग प्रसन्न होते हुए अपने अपने घर सिधारे।

पिता के यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति का वृत्तान्त सुन राजकुमार रोहित सहर्ष घर लौट आया। पुत्र को बहुत दिनों बाद देखने से राजा हरिश्चन्द्र बहुत प्रसन्न हुए।

शिक्षा।

(१) कैसा भी हलका या भारी कार्य क्यों न हो जैसे विना समझे बूझे उसे न करना चाहिये, वैसे ही विना समझे बूझे वचनबद्ध भी न होना चाहिये। यदि राजा हरिश्चन्द्र वरुण के साथ प्रतिज्ञाबद्ध होने के पूर्व विचार करके यह समझ लेते कि पुत्र होने पर भी यदि हमें उसे यज्ञाहुति बनाना पड़ा, तो पुत्र होने ही से हमें क्या फल मिला। इस छोटी सी भूल का परिणाम यह हुआ कि उन्हें देवता से अनेक बार मिथ्या बोलना पड़ा और अन्त में उन्होंने वरुण को भी अप्रसन्न कर दिया तथा रोगाक्रान्त हो अनेक प्रकार के कष्ट भोगे।

(२) अजीगर्त ब्राह्मण के चरित्र की आलोचना करने से जान पड़ता है कि लोभ में पड़ने से मनुष्य का विवेक और ज्ञान सम्पूर्णतया नष्ट हो जाता है। विवेक के नष्ट होते ही कुलाभिमान नष्ट होता और निर्लज्जता उत्पन्न हो जाती है।

(३) धन उपार्जन करना बुरा नहीं है, पर उचित मार्ग से ही वाञ्छनीय है।

(४) यदि किसी की आँखों के सामने कोई अन्याय करता हो, तो उसका प्रतिवाद महात्मा विश्वामित्र की तरह अवश्य निर्भय हो कर करना चाहिये।

(५) महात्माओं के कहने को कभी न टालें। यदि हरिश्चन्द्र महात्मा विश्वामित्र की बात मान लेते, तो उनकी मनोकामना भी पूर्ण होती और ब्राह्मण-कुमार को यज्ञपशु बनाने का कलङ्क भी उन पर न लगता।

(६) अहिंसा परम धर्म है। पशु अथवा किसी जीवधारी को मारना ही हिंसा नहीं है, किन्तु अन्याय से अथवा न्याय से किसी का चित्त दुःखाना भी हिंसा ही है। जो श्रेय कामना करते हों उन्हें आजन्म अहिंसा-व्रत धारण करना चाहिये।

११-हरिश्चन्द्र और रोहित का उपाख्यान।

[सत्य की सदा जय होती है।]

एक दिन की बात है, महात्मा वसिष्ठ, देवराज इन्द्र की राजसभा में गये; वहाँ महात्मा विश्वामित्र भी थे। दोनों की वहाँ भेंट हुई। इन्द्र ने महात्मा वसिष्ठ का बड़ा आदर सत्कार किया। यह देख विश्वामित्र जी ने उनसे पूछा:—

विश्वामित्र—महात्मन्! आप यह तो बतलाइये कि आपने ऐसा कौनसा काम किया है कि जिससे आपका यहाँ इतना आदर सत्कार हो रहा है।

वसिष्ठ जी—मेरा यजमान बड़ा प्रतापी और उदार है। उसने राजसूय यज्ञ कर ब्राह्मणों को अयाचक बना दिया। वह अपनी प्रजा का पालन न्याय पूर्वक करता है। इस समय उसके समान सत्यवादी और दाता दूसरा है ही नहीं और न आगे ही कोई होगा।

यह सुनते ही विश्वामित्र के शरीर में आग लग गयी। उनके दोनों नेत्र लाल होगये। क्यों कि वे हरिश्चन्द्र की सत्यवाद-निष्ठा

और न्याय-पूर्वक प्रजा-पालन का परिचय पूर्व में पा चुके थे। अत वे बड़े रोष के साथ बोले —

विश्वामित्र—महात्मन्! बड़े आश्चर्य की बात है कि आप हरिश्चन्द्र जैसे कपटी तथा असत्यवादी राजा की इतनी बड़ाई करते है' क्या आप भूल गये कि यह वही हरिश्चन्द्र है जिसने वरुण को ठगा और बार बार प्रतिज्ञा करके भी उसे कभी पूरी न की। वह तो झूठों का सरताज और महासूम है। जान पड़ता है आपकी वह अच्छे प्रकार पूजा पत्री चढ़ा दिया करता है, इसीसे आप उसका सर्वत्र यश गान करते फिरते हैं। क्यों न हो—"मृदङ्ग मुख लेपेन करोति मधुर ध्वनिम्।"

इसे सुन वसिष्ठ जी क्रुद्ध तो न हुए; पर विश्वामित्र को छेडने के लिये उनके सामने फिर हरिश्चन्द्र की वडाई करने लगे। तब तो दोनों महात्माओ मे, आपस मे बहुत तनातनी हो गयी और दोनों महात्मा अपने अपने घर चले गये। पर महात्मा विश्वामित्र ने इस कहासुनी से चिढ़ कर, हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने का मन ही मन सँकल्प किया।

बड़ा ही सघन वन था। उसमें बनैले जीव जन्तु भरे पड़े थे। उसीमें एक दिन हरिश्चन्द्र आखेट खेलने गये। वहाँ उनके कान में एक स्त्री के बिलख बिलख कर रोने का शब्द पडा। राजा उस स्त्री के पास गये और रोने का कारण पूँछा। उत्तर में उसने कहाः—

स्त्री—राजन्! मेरा नाम कामना है। इस समय मैं बड़ी दुःखी हूँ। दुःख का कारण विश्वामित्र जी की घोर तपस्या है।

हरिश्चन्द्र—हे वरारोहे! तू धैर्य्य धर, मैं अभी ऐसा उपाय करता हूँ जिससे तुझे कष्ट न हो।

इतना कह राजा उन्हीं पाँवों विश्वामित्र के निकट गये और उनसे कहा:—

राजा—मुनिवर्य्य! आप इतनी कठोर तपस्या क्यों करते हैं? आपके इस कर्म से मेरी प्रजा को कष्ट पहुँचता है। ऐसा तप किसी को न तपना चाहिये, जिससे संसार दुःखी हो।

विश्वामित्र ने राजा की इस उक्ति का कुछ भी उत्तर न दिया, किन्तु मन ही मन वे राजा के ऊपर बड़े अप्रसन्न हुए और उसका बदला लेने का उपाय सोचने लगे।

अन्त में उन्होंने एक दानव को राजा के यहाँ भेजा। वह बनैले शूकर का रूप धारण कर, महाराज की वाटिका में घुस कर, उपद्रव करने लगा। मालियों ने उसे वहाँ से खदेड़ कर निकालने की बहुत चेष्टा की, किन्तु जब वे सफल-प्रयत्न न हुए, तब उन्होंने सशस्त्र सैनिकों की सहायता ली। सशस्त्र सैनिकों ने शूकर पर भाला बर्छी आदि अस्त्र चलाये, पर उस मायावी के शरीर पर इन अस्त्रों का भी कुछ फल न हुआ। अन्त में अन्य उपाय न देख, उस शूकर के उपद्रवों की महाराज को सूचना दी गयी। महाराज एक सुन्दर घोड़े पर सवार हो, सैनिकों सहित वाटिका में पहुँचे। अपनी सुन्दर सजी वाटिका

की दुर्दशा देख, राजा को क्रोध आ गया और उस शूकर को मारने के लिये उन्होने उसका पीछा किया। कई बार उन्होंने उस शूकर पर अस्त्र प्रहार भी करना चाहा, पर वह मायावी उन्हें बचा गया। भागते भागते कभी वह दिखलाई पड़ता और कभी छिप जाता था। हरिश्चन्द्र ने उसके पीछे अपना घोडा इतनी तेज़ी से दौडाया कि उनके सब साथी पीछे छूट गये।

राजा को शूकर का पीछा करते करते मध्यान्ह हो गया। मारे प्यास के तलुआ चटकने लगा। इधर शूकर भी न जाने किधर लोप हो गया। मार्ग भूल जाने के कारण उन्हे और भी अधिक घबराहट हुई। इतने में एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धर कर, विश्वामित्र जी महाराज के सामने जा खडे हुए और आशीर्वाद दे कर कहने लगे —

विश्वामित्र—पृथ्वीनाथ की जय हो। श्रीमान् का यहाँ आना आज क्यों कर हुआ? इस निर्जन वन में श्रीमान् को अकेले देख कर, मुझे आश्चर्य होता है।

इसके उत्तर में राजा ने अपने वहाँ पहुँचने का कारण कह सुनाया। साथ ही यह भी कहा:—

हरिश्चन्द्र—हे विप्रवर! मैं इस समय बहुत प्यासा हूँ। मुझे यदि आप राजधानी का मार्ग बतलादें, तो आपकी बड़ी कृपा हो। मैं अयोध्या-नरेश हरिश्चन्द्र हूँ। आपने मेरा नाम तो अवश्य ही सुन रखा होगा। मैं राजसूय यज्ञ भी कर चुका हूँ। यदि

आपको यज्ञादि के लिये धन अपेक्षित हो तो अयोध्या आइयेगा। मैं आपको बहुत सा धन दूँगा।

यह सुन वह वृद्ध ब्राह्मण हँसा और बोला:—

ब्राह्मण—हे पृथिवीनाथ! यह बड़ा पुनीत और पापनाशक तीर्थ है। यहाँ श्रीमान् स्नान करें और देव पितरों का तर्पण करें। यह शुभकाल अपने आप उपस्थित हुआ है। श्रद्धानुसार दान पुण्य करके श्रीमान् राजधानी को पधारें। मैं श्रीमान् को राजधानी का मार्ग दिखला दूँगा।

यह सुन प्यासे हरिश्चन्द्र घोड़े से उतर पड़े और उसे एक पेड़ में अटका दिया। अनन्तर उन्होंने स्नानादि नित्य कर्म किये। जब वे सन्ध्या तर्पणादि कर चुके, तब वे ब्राह्मण से बोले—

हरिश्चन्द्र—हे विप्र! आइये और अपनी इच्छानुसार मुझसे माँगिये। गौ अश्व, हाथी, भूमि धन—जो कुछ आप चाहें माँगिये। आपके लिये मेरे निकट कुछ भी अदेय नहीं है।

इस प्रकार राजा के मुख से गर्वित वचन सुन, वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—

ब्राह्मण—राजन्! मैं श्रीमान् की बड़ाई वसिष्ठादि महर्षियों के मुख से सुन चुका हूँ। श्रीमान् के समान दाता आज इस धराधाम पर कोई नहीं है। महाराज

मेरे पुत्र का विवाह है। अतएव मुझे धन की आवश्यकता है।

हरिश्चन्द्र—अच्छा। आप विवाह कीजिये और जितना धन लगेगा, मैं दूँगा।

यह सुन विश्वामित्र ने गान्धर्वी विद्या का विस्तार किया। उसी समय दस बरस की कन्या और उतना ही बड़ा एक वर वहाँ उपस्थित हुए। उन्हें दिखा कर ब्राह्मण ने कहा:—

ब्राह्मण—राजन्! देखिये उन्हीं दोनों का विवाह करना है। यह कार्य जितना शीघ्र निपट सके, उतना ही अच्छा है।

माया-मोहित हरिश्चन्द्र ने कहा:—

हरिश्चन्द्र—बहुत अच्छा, चल कर आप इन दोनों का विवाह कर डालिये।

तब उस ब्राह्मण ने महाराज को अयोध्या का मार्ग बतलाया। महाराज अपनी राजधानी में पहुँचे और विवाहादि कार्य होने लगे। उस समय विश्वामित्र जी ने कहा:—

ब्राह्मण—राजन्! इस यज्ञवेदी पर आप जो कुछ चढ़ाना चाहते हों, चढावें।

हरिश्चन्द्र—ब्राह्मण देव! आप बार बार मुझे क्यों तङ्ग करते हैं, मैं आपसे पहले ही कह चुका कि आपको जो चाहिये सो माँग लीजिये। क्योंकि चाहे वह वस्तु देने योग्य हो या न हो, मैं अवश्य दूँगा।

इस ससार मे जन्म लेकर जिसने शुद्ध यश न कमाया, उसका जन्म लेना ही वृथा है।

ब्राह्मण--राजन्! यदि यही बात है तो सम्पूर्ण राज्य, वर को दे डालिये।

हरिश्चन्द्र—(रोष में भर) बहुत अच्छा मैने सारा राज-पाट दिया।

वर—गृहीतम्। मैने लिया।

ब्राह्मण—राजन्! श्रीमान् का यह दान अपूर्व है। इस काम के योग्य दक्षिणा भी दीजिये। क्योंकि बिना सॉगिता दक्षिणा का दान निष्फल होता है।

हरिश्चन्द्र—कितनी दक्षिणा दी जाय?

ब्राह्मण—राजन्! अढ़ाई भार सोना।

हरिश्चन्द्र—बहुत अच्छा।

यह सुन विश्वामित्र ने गान्धर्वी माया को दूर किया। माया के दूर होते ही राजा की आँखों के सामने का परदा हटा। वह अब मन ही मन कहने लगा—'मैं सारा धनागार और राजपाट तो पहिले ही सकल्प कर चुका, अब इतना सोना मै कहॉ से दे सकूँगा।" राजा की करतूत देख उसके दरबारी, मंत्री, सेनापति आदि चित्र लिखे से देखते ही रहे और आश्चर्य समुद्र में डूबने उछलने लगे। उन लोगों में कानाफूँसी होने लगी--वे आपस में कहने लगे— न जाने परमात्मा क्या करना चाहता है"!

हरिश्चन्द्र की उस दिन की रात अनेक प्रकार की चिन्ता ही करते व्यतीत हुई। भोर होते ही ज्यों ही वे सन्ध्या

तर्पणादि से निश्चिन्त हुए त्यों ही उग्र-रूप-धारी विश्वामित्र वहाँ जा पहुँचे और हरिश्चन्द्र से कहने लगे —

विश्वामित्र—बस अब आप राजपाट छोड़ दीजिये। क्योंकि कल आप ये सब संकल्प कर चुके हैं। यदि आज आपका विचार बदल गया हो, तो वैसा कहिये।

हरिश्चन्द्र—ऋषिप्रवर! लीजिये न, यह सारा राजपाट आपही का तो है। निस्सन्देह मैंने अपनी इच्छानुसार कल इसे आपको दिया था। मैं इस समूचे राज्य को छोड़, अन्यत्र जा रहूँगा। पर एक बात है। अभी मेरे पास अढ़ाई भार सोना नहीं है। क्योंकि मैं आपको सर्वस्व दे चुका हूँ। अतः जब तक मुझे उतना सुवर्ण न मिले, तब तक के लिये आप मुझे यदि क्षमा करें, तो बड़ी कृपा हो।

यह कह हरिश्चन्द्र रनवास में पहुँचे और राजमहिषी शैव्या और पुत्र रोहित से कहने लगे:—

हरिश्चन्द्र -प्रिये और प्राणधिक वत्स! तुम दोनों का शरीर छोड कर, मैंने समूचा राजपाट एक ब्राह्मण को दे डाला है। अब हम तीनों यहाँ नहीं रह सकते। अत हम वन को जा रहे हैं।

इतना कह महात्मा हरिश्चन्द्र स्त्री पुत्र समेत अयोध्यापुरी त्याग कर, वन की ओर चल दिये। यह करुणोत्पादक दृश्य देख अयोध्या की प्रजा आँसू बहाती उनके पीछे लग ली। लोग आपस में कहते जाते थे, 'महाराज ने बडी भूल की। उनको एक ठग ब्राह्मण ने ठग लिया।' इस प्रकार लोगों की आलोचना प्रत्या-

लोचना सुनते हुए महाराज नगर के बाहर पहुँचे। उस समय विश्वामित्र ने उन्हें रोक कर कहा:—

विश्वामित्र—महाराज! कहाँ भागे जाते हो? पहले दक्षिणा तो चुकाये जाइये। यदि न दे सकते हो, तो वैसा कह दीजिये। मैं माँगना छोड़ दूँ। यदि इस पर भी आप बुरा मानते हों, तो आप अपना राज्य लौटा लीजिये।

हरिश्चन्द्र के हृदय में विश्वामित्र की इन कटूक्तियों ने घाव कर दिया। वे कहने लगे:—

हरिश्चन्द्र—तपोधन! सुनिये। मैं जब तक आपके ऋण से उद्धार न हो जाऊँगा, तब तक अन्न ग्रहण न करूँगा। मैं सूर्य-वंशी क्षत्रिय हूँ। मैं राजसूय यज्ञ भी कर चुका हूँ। यज्ञ में मैंने ब्राह्मणों को मुँह माँगा धन दिया है। मैं जब आपको देने की प्रतिज्ञा एक बार कर चुका हूँ, तब शरीर में प्राण रहते कैसे कहूँ कि नहीं दे सकता? आप धीरज धरिये।

विश्वामित्र—महाराज! क्या आपको कहीं से धन मिलने वाला है? जो धन आने का द्वार था, वह तो आपका बन्द हो ही चुका। राज दिया, धनागार दिया। इस समय आप निर्धन हैं। अब हमें धन के लिये बार बार कहते बुरा जान पड़ता है। अतः आप कह दीजिये कि आप प्रतिज्ञात सोना न दे सकेंगे। तब हम आपका पीछा न करेंगे। आप जहाँ इच्छा हो चले जाइयेगा।

हरिश्चन्द्र—हे तपोधन! मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा। यद्यपि इस समय मेरे पास धन नहीं है, तथापि मेरा,

मेरी स्त्री का, मेरे पुत्र का शरीर है। मैं अपने शरीर को बेच कर, आपका देना चुकाऊँगा। पर प्रार्थना यह है कि आप धीरज धरें। मैं काशी जाता हूँ। वहाँ हम लोगों को मोल लेने वाले अवश्य मिलेंगे। मैं आपको अढ़ाई भार सोना अवश्य दूँगा। आप मुझसे नाहीं न कराइये। मैं एक मास में आपको सोना दूँगा।

इतना कह हरिश्चन्द्र उस काशी की ओर चले, जहाँ विश्वनाथ विराजमान हैं और जहाँ की विचित्र शोभा देखते ही मन मुग्ध हो जाता है। चलते चलते तीनों काशी पहुँचे। पैदल चलने का अभ्यास तो तीन में से एक को भी न था। इस लिये चलते चलते तीनों के पैरों में छाले पड गये। पर जब वे तीनों गङ्गा में स्नान कर नित्यकर्म से निश्चिन्त हुए, तब विश्वामित्र जी उन्हें फिर दिखलाई पडे और वे कहने लगे:—

विश्वामित्र—राजन्! एक महीने में हमारी दक्षिणा देनी कही थी सो एक मास आज पूरा होता है। अब हमारी दक्षिणा मिलनी चाहिये।

हरिश्चन्द्र—महाराज! मैं भूला नहीं, पर महीना पूरा होने में आधा दिन अभी बाकी है। सन्ध्या होने तक और ठहरिये।

विश्वामित्र—अच्छा, सन्ध्या भी हो जाने दीजिये। हम फिर आवेंगे।

इतनी कहासुनी होने के पश्चात् विश्वामित्र जी तो चले गये, पर राजा की चिन्ता की सीमा न रही। वे सोचने लगे इस समय में एक अपरिचित स्थान में हूँ। कैसे इतना सुवर्ण

एकत्र कर ब्राह्मण के ऋण से उद्धार होऊं। मैं जाति का क्षत्रिय हूँ। भिक्षा माँग नहीं सकता। क्योंकि शास्त्र में क्षत्रिय के लिये केवल तीन ही काम बतलाये गये है, अर्थात् १-दान देना, २-पढ़ना, ३-यज्ञ करना। क्षत्रियों को दान लेने का अधिकार कहीं नहीं है। यदि इस ऋण से मुक्त हुए बिना मैं मर जाऊं, तो या तो मुझे कीडे की योनि मिलेगी या प्रेत होऊंगा। इसलिये सब से अच्छा यही है कि मैं अपने इस शरीर को क्रय कर के इस ऋण से उद्धार हो जाऊं।

रानी ने राजा को चिन्तित देख कर कहा:—

रानी—प्राणनाथ! आप चिन्तित न हों। आप अपने धर्म को पालिये। जिस प्राणी ने सत्य धर्म को त्याग दिया, वह प्रेत से भी गया बीता है। सत्य पालन से बढ़ कर, संसार में दूसरा धर्म नहीं है। जो असत्य भाषण करता है, उसके अनुष्ठित यावत् सत्कर्म निष्फल होते है। इस भवसागर से पार होने के लिये सत्य ही पोत है। सत्य का पालन स्वर्गप्रद और असत्य का आश्रय-ग्रहण ही नरकप्रद है। राजा ययाति ने सौ अश्वमेध और एक राजसूय यज्ञ किया था, तो भी न कुछ असत्य भाषण के फल से, वे स्वर्ग च्युत हुए थे। अतएव हे प्राणेश्वर! सर्वस्व खोकर भी आप सत्य को न त्यागिये।

हरिश्चन्द्र—रानी! इस समय जो मेरी दशा है वह तुमसे छिपी नहीं है। मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। जो कुछ है वह यह पुत्र है। सो भी शास्त्रानुसार

अदेय धन है। क्योंकि यह वंशवृद्धि का कारण है। ऐसी दशा में तू ही बतला अब क्या किया जाय?

रानी—महाराज! जो हो, पर असत्य न बोलिये। स्त्री पुत्र दोनों को बेच कर, ब्राह्मण को दक्षिणा दीजिये।

रानी के मुख से यह सुनते ही महाराज मूर्च्छित हो गिर पड़े। कुछ क्षणों बाद सचेत हो वे फिर रानी से बोले:—

महाराज—भद्रे! तूने जो बात कही उसके अनुसार इस समय व्यवहार करना बड़ा कठिन है। मुझसे बढ़ कर अभागा इस धराधाम पर दूसरा कोई नहीं है, जो ऐसी बात सुनने के लिये जीता जागता खड़ा है।

इतना कह, राजा अचेत हो फिर गिर पड़े। पति को सामने मूर्च्छित दशा में पड़ा देख रानी विलाप कर कहने लगी।

रानी—हा महाराज! हा प्रजा-वत्सल! यह किस के पाप का फल है? जो सदा कोमल शय्या पर सोया करता था, वह आज एक रङ्क की तरह भूमि पर लोट रहा है। जिस दानी शिरोमणि ने कई करोड़ धन ब्राह्मणों को दान कर दिया, वह आज थोड़े से धन के लिये विकल है! हे निष्ठुर दैव! इस पुरुषसिंह ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जिससे तुम इसकी यह दुर्दशा कर रहे हो!

इस प्रकार विलाप करती करती रानी भी अचेत हो गिर पड़ी। माता पिता दोनों को मूर्च्छित पड़े देख, राजकुमार

कहने लगा—"माँ ! बड़ी भूख लगी है अब नहीं रहा जाता। मारे भूख के प्राण निकला जाता है"। इस कारुणोत्पादक दृश्य का अन्तिम पटाक्षेप नहीं होने पाया था कि इतने में विश्वामित्र जी आते हुए पुनः दिखलाई पड़े। राजा के नेत्रों में जल के छींटे मार कर, विश्वामित्र ने उनकी मूर्च्छा भङ्ग की। अनन्तर उनसे कहा :—

विश्वामित्र—राजराजेन्द्र ! उठिये, अब सन्ध्या हुआ ही चाहती है। अब हमारी दक्षिणा में अधिक विलम्ब न होना चाहिये। क्या आप नहीं जानते कि ऋणग्रस्त पुरुष का दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। महाराज ! यदि आप ही सत्य का आदर न करेंगे, तो फिर दूसरे उसका आदर क्यों करने लगे ? सत्य ही के प्रभाव से सूर्य प्रकाशमान है, सत्य ही के बल पर पृथ्वी टिकी हुई है, सत्यवादी पद पद पर सहस्रों अश्वमेध यज्ञों का फल लाभ करता है। विशेष कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु इतना समझ लीजिये कि यदि सूर्य्यास्त होने के समय तक आपने हमारा ऋण न चुकाया, तो अच्छा न होगा और आपको हमारे शापाग्नि में कुल समेत भस्म होना पड़ेगा।

शाप के भय से महाराज हरिश्चन्द्र थर थर काँपने लगे। पर वे करते ही क्या ? उनकी गाँठ में तो फूटी कौड़ी भी न थी। इतने में सहसा उन्हें एक ब्राह्मण सामने आता दीख पड़ा। उसे देख रानी ने राजा से कहा :—

रानी—राजन्! क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का ब्राह्मण पिता है। पिता का द्रव्य पुत्र निःसङ्कोच ले सकता है। अत आप इनसे धन के लिये प्रार्थना कीजिये।

राजा—रानी! तुम्हे क्या हो गया है? तुम क्या कह रही हो? सारा सागर तैर चुकने पर क्या तुम मुझे किनारे के समीप डुबोया चाहती हो? क्षत्रिय हो कर मॉगना! मुझे धिक्कार है! क्षत्रियों का काम ब्राह्मणों को देना है, उनसे मॉगना नही। ब्राह्मण तीनो वर्णों का गुरु है और पूज्य है। इस लिये उससे मॉगना सर्वथा अनुचित है। प्यारी! खड्ग की तीक्ष्ण धार से मेरी जिह्वा भले ही कोई काट डाले, पर मै किसी के सामने हाथ पसार कर यह न कहूँगा—'मुझे दो'।

रानी—यदि ऐसा ही है तो आप मुझे इस ब्राह्मण के हाथ वेच डालिये और ब्राह्मण का देना चुकाइये।

जब रानी ने अपनी वात पर वहुत सा हठ किया, तब हरिश्चन्द्र कहने लगे—

राजा—वहुत अच्छा! अब मै उस निष्ठुर कार्य का अनुष्ठान करता हूँ, जिसे वडे वडे पाषाण हृदय भी करने में सङ्कोच किया करते है।

अनन्तर महाराज चौक में गये और चौराहे पर खडे होकर अपनी रानी को वेचने लगे। पर दुःख के कारण उनका गला भर आया।

राजा को अपनी स्त्री वेचते देख, काशीवासी नाना प्रकार के उन पर आक्षेप करने लगे। इतने में एक ब्राह्मण ने उनसे पूँछा—

कहने लगा—"माँ! बड़ी भूख लगी है, अब नहीं रहा जाता। मारे भूख के प्राण निकला जाता है"। इस कारणोत्पादक दृश्य का अन्तिम पटाक्षेप नहीं होने पाया था कि इतने में विश्वामित्र जी आते हुए पुन दिखलाई पड़े। राजा के नेत्रों में जल के छींटे मार कर, विश्वामित्र ने उनकी मूर्च्छा भङ्ग की। अनन्तर उनसे कहा:—

विश्वामित्र—राजराजेन्द्र! उठिये, अब सन्ध्या हुआ ही चाहती है। अब हमारी दक्षिणा में अधिक विलम्ब न होना चाहिये। क्या आप नहीं जानते कि ऋण-ग्रस्त पुरुष का दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। महाराज! यदि आप ही सत्य का आदर न करेंगे, तो फिर दूसरे उसका आदर क्यों करने लगे। सत्य ही के प्रभाव से सूर्य प्रकाशमान है, सत्य ही के बल पर पृथ्वी टिकी हुई है, सत्यवादी पद पद पर सहस्रों अश्वमेध यज्ञो का फल लाभ करता है। विशेष कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु इतना समझ लीजिये कि यदि सूर्य्यास्त होने के समय तक आपने हमारा ऋण न चुकाया, तो अच्छा न होगा और आपको हमारे शापाग्नि में कुल समेत भस्म होना पड़ेगा।

शाप के भय से महाराज हरिश्चन्द्र थर थर काँपने लगे। पर वे करते ही क्या? उनकी गाँठ में तो फूटी कौडी भी न थी। इतने में सहसा उन्हें एक ब्राह्मण सामने आता दीख पड़ा। से देख रानी ने राजा से कहा:—

रानी—राजन्! क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का ब्राह्मण पिता है। पिता का द्रव्य पुत्र निःसङ्कोच ले सकता है। अत आप इनसे धन के लिये प्रार्थना कीजिये।

राजा—रानी! तुम्हे क्या हो गया है? तुम क्या कह रही हो? सारा सागर तैर चुकने पर क्या तुम मुझे किनारे के समीप डुबोया चाहती हो? क्षत्रिय हो कर माँगना! मुझे धिक्कार है! क्षत्रियों का काम ब्राह्मणों को देना है, उनसे माँगना नही। ब्राह्मण तीनो वर्णों का गुरु है और पूज्य है। इस लिये उससे माँगना सर्वथा अनुचित है। प्यारी! खड्ग की तीक्ष्ण धार से मेरी जिह्वा भले ही कोई काट डाले, पर मै किसी के सामने हाथ पसार कर यह न कहूँगा—'मुझे दो'।

रानी—यदि ऐसा ही है तो आप मुझे इस ब्राह्मण के हाथ बेच डालिये और ब्राह्मण का देना चुकाइये।

जब रानी ने अपनी बात पर बहुत सा हठ किया, तब हरिश्चन्द्र कहने लगे—

राजा—बहुत अच्छा! अब मै उस निष्ठुर कार्य का अनुष्ठान करता हूँ, जिसे बड़े बड़े पाषाण हृदय भी करने में सङ्कोच किया करते हैं।

अनन्तर महाराज चौक में गये और चौराहे पर खड़े होकर अपनी रानी को बेचने लगे। पर दुःख के कारण उनका गला भर आया।

राजा को अपनी स्त्री बेचते देख, काशीवासी नाना प्रकार के उन पर आक्षेप करने लगे। इतने में एक ब्राह्मण ने उनसे पूँछा—

ब्राह्मण--मुझे इस दासी की आवश्यकता है। अच्छा बतला इसका तू क्या लेगा ?

राजा—आप इससे काम क्या करावेंगे ?

ब्राह्मण—काम की सूची मै कहाँ तक सुनाऊँ। घर का सभी कामधन्धा इसे करना पड़ेगा।

राजा —अच्छा, तब आपही कहें कि आप इसका क्या देंगे ?

ब्राह्मण—एक भार सोना।

राजा—अच्छा, यही सही।

ब्राह्मण एक भार सोना देकर और रानी को अपने साथ लेकर आगे बढ़ा, पर पति और पुत्र को छोड कर जाना, रानी को असह्य हुआ। उधर पुत्र भी माता को छोडने मे असम्मत था। तब रानी ने ब्राह्मण से कहा —

रानी—महाराज! दासी की एक प्रार्थना है, कृपा कर बालक को और क्रय कर लीजिये। यह मेरे साथ रहा आवेगा और आपका छोटा मोटा काम काज भी करता रहैगा।

यह सुन ब्राह्मण ने आधा भार सोना दे, उस बालक को भी ले लिया और उन दोनों को लिये हुए, वह अपने घर की ओर चल दिया।

इतने में विश्वामित्र जी फिर सामने दिखलाई पड़े। उन्हें देखते ही राजा ने डेढ भार सोना उनके चरणों पर रखा और कहा शेष सोना भी मैं अभी आपको भेंट करता हूँ। यह सुन

... त्र कहने लगेः—

विश्वामित्र—राजन्! सोने को ग्रहण करने के पूर्व मैं जानना चाहता हूँ कि तुझे यह सोना कैसे मिला ?

राजा—ब्रह्मण्य देव! आप यह दुःखभरी कहानी मुझसे कहला कर मुझे क्यों वृथा कष्ट देते है ?

विश्वामित्र—यदि बात कहने से तुझे दुःख होता है, तो इस सोने को देते न जाने तुझे कितना दुःख होता होगा। मै यह सोना अब न लूँगा। इसे तू अब अपने पास ही रख। जब तक मुझे यह न मालूम होगा कि तूने यह सोना कहाँ से पाया, तब तक मैं इसे कदापि ग्रहण न करूँगा। क्योंकि ब्राह्मणों को अनुचित मार्ग द्वारा प्राप्त धन को ग्रहण करने का निषेध है।

राजा–महाराज! शान्त हूजिये। यह सोना मैंने अपनी स्त्री और पुत्र को बेच कर एकत्र किया है। आप इसे ग्रहण करें। एक भार सोना मुझे और देना है। उसे भी मैं आपको तुरन्त देने का प्रबन्ध करता हूँ।

विश्वामित्र राजन्! स्मरण रहे, अब सूर्यास्त होने में कुछ ही क्षणों का विलम्ब है। कहीं ऐसा न हो कि अबकी बार भी मुझे रीते ही हाथ लौटना पडे।

यह कह विश्वामित्र जो तो चले गये। किन्तु राजा हरिश्चन्द्र शोक से व्याकुल हो और नीचा सिर कर, उसाँसे ले लेकर कहने लगे –

राजा-अरे भाई काशी वालों! इस मृतक के क्रय करने से यदि किसी का कुछ काम निकल सकता हो तो तुरन्त मुझे क्रय करो।

यह सुन एक चाण्डाल राजा के पास गया और उनसे कहने लगा :—

चाण्डाल—हाँ, मुझे एक ऐसे मनुष्य की आवश्यकता है, जो मेरा दास बने। यदि तू मेरा दास बनना स्वीकार करे, तो बतला तू मूल्य क्या लेगा?

राजा—मूल्य की बात तो मैं पीछे कहूँगा, पहले यह तो बतला कि तू है कौन?

चाण्डाल—मैं जाति का चाण्डाल हूँ और प्रवीर मेरा नाम है। श्मशान पर रहना और मुरदों का कफ़न लेना मेरा काम है।

राजा—यदि मुझे किसी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय की सेवा करनी पड़ती, तो अच्छा होता। क्योंकि उत्तम के लिये उत्तम, मध्यम के लिये मध्यम, और अधम के लिये अधम ही की सङ्गत ठीक होती है।

चाण्डाल—इस समय तू ने बिना समझे बूझे बात कही है। जो मनुष्य समझ बूझ कर बात कहता है, उसकी अभिलाषा पूरी होती है। तूने ही कहा था—हे काशीवालो! इस मृतक के क्रय करने से यदि किसी का कुछ काम निकल सकता हो, तो तुरन्त मुझे क्रय करें। यह कहते समय तूने किसी प्रकार का अन्य ठहराव नहीं किया था। यदि न्याय सचमुच कोई वस्तु है, यदि तू सचमुच सत्य के अस्तित्व को मानता है, और यदि तू धर्म

पर आरूढ़ है, तो तू अब बीच में ब्राह्मण क्षत्रिय का झमेला नहीं डाल सकता।

उन दोनों में इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि इतने में विश्वामित्र जी वहाँ पहुँच गये और राजा से बोले —

विश्वामित्र—जब यह चाण्डाल तुझे मुँहमाँगा मूल्य देता है, तब तू मेरी दक्षिणा चुकाने में इतस्ततः क्यों कर रहा है?

हरिश्चन्द्र—(रोष में भर कर) क्षत्रियकुल में जन्म लेकर, मैं चाण्डाल का दासत्व स्वीकृत करूँ?

विश्वामित्र—मैं तेरी ये निष्प्रयोजनीय बातें नहीं सुनना चाहता। या तो मुझे दक्षिणा दे, या "नहीं" कह कर झूँठा बन। तू मुझे कितनी ही बार कष्ट दे चुका है। क्या मैं तेरा दास हूँ, जो बार बार तेरे पास आया करूँ? मेरी शेष दक्षिणा अभी, अभी चुका, नहीं तो शाप देकर मैं तुझे अभी भस्म किये डालता हूँ।

हरिश्चन्द्र—(हाथ जोड़ कर) महाराज! क्षमा कीजिये। मैं आपका दास हूँ और इस समय दुःखों से आक्रान्त होने के कारण हतबुद्धि हूँ। मुझे इस चाण्डाल के दासत्व से बचाइये। शेष दक्षिणा के बदले में आपका चरणसेवक आजन्म बनने को प्रस्तुत हूँ। आप जो आज्ञा देंगे, यह दास वही करेगा।

विश्वामित्र—दास बन कर, मेरी आज्ञा मानेगा?

हरिश्चन्द्र—मैं सदा आपकी आज्ञा मानूँगा। जो कहिये मैं वही करूँ।

विश्वामित्र—(चाण्डाल से) अरे चाण्डाल! इधर आ। यह मेरा दास है। मैं इसे वेचता हूँ। वोल इसका क्या मूल्य देगा? मुझे इस समय धन की आवश्यकता है, दास की नहीं।

चाण्डाल—दसयोजन विस्तृत भूमि पर जितना रत्न एवं सोना रखा जा सकता हो, उतना धन मैं इस दास के वदले दे सकता हूँ।

यह सुन विश्वामित्र ने उस चाण्डाल से मनमाने रत्न और सोना लेकर हरिश्चन्द्र को उसके हाथ वेच डाला और कहा:—

विश्वामित्र—हरिश्चन्द्र! अव तुम मेरे ऋण से उऋण हुए। मैंने अपनी पूरी दक्षिणा भर पायी।

उधर हरिश्चन्द्र का सत्य पर अटल अचल विश्वास देख देवतागण प्रसन्न हुए। गन्धर्व लोग महाराज का यशोगान करते हुए कहने लगे:—

"चह विलटै रविचन्द्रमा, चह क्षिति मकल विलाय।
हरिश्चन्द्र की सत्यता, कबहूँ नहीं नसाय॥"

अनन्तर हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र से कहा:—

विश्वामित्र—हे तपोधन! जिस प्रकार माता पिता अपने पुत्र के हितैषी होते हैं, आप भी वैसे ही मेरे हितैषी हैं। यह आपका मुझ पर वड़ा भारी

अनुग्रह है कि आपने क्षण भर मे मुझे ऋण की हत्या से छुडाया। अब आप जो कहैं, वही मै करने को प्रस्तुत हूँ।

विश्वामित्र—आज से तू इस चाण्डाल का दास हुआ। यह जो काम तुझसे करने को कहे, तू वही करना। राजा! जा, भगवान् तेरा भला करें।

यह कह विश्वामित्र वहाँ से चल दिये। चाण्डाल हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़ कर उन्हें अपनी श्मशान वाली झोपड़ी में ले गया। वहॉ चार दिन तक रख, पॉचवे दिन उन्हे श्मशान पर मुर्दों का कफ़न लेने के लिये नियुक्त किया।

हरिश्चन्द्र श्मशान पर रहने लगे। श्मशान पर मुर्दों की इतनी सड़ाइन थी, कि वहाँ एक क्षण भी ठहरना कठिन था। गिद्ध काक श्वान एव शृगाल मुर्दों के मॉस को चीथ चीथ कर खाते थे। ऐसा एक पल भी न बीतता जिसमें एक न एक मुर्दा वहॉ न लाया जाता हो और उसके कुटुम्बियों का क्रन्दन न सुनाई पडता हो। अष्टप्रहर उस श्मशान पर चिता की अखण्ड ज्वाला निकला ही करती थी। ऐसे भीषण स्थान में बैठे हुए हरिश्चन्द्र बीती हुई बातो को स्मरण कर आँसू बहाया करते थे किन्तु अब सिवाय रोने और आँसू बहाने के दूसरा उपाय ही क्या था?

ज्यों ही श्मशान पर लोग किसी मुर्दे को लाते, त्यों ही महाराज उसका कफ़न ले लिया करते थे। चिता की राख उड़ उड कर इनके सारे शरीर में लिपट गई थी। रात दिन मुर्दों का आना लगा रहता था इसीसे उन्हें भली भॉति सोने तक का अवकाश

नहीं मिलता था। इस प्रकार हरिश्चन्द्र बारह मास तक अविराम परिश्रम करते रहे।

हरिश्चन्द्र को श्मशान पर छोड़, अब हम उनकी पत्नी की ओर झुकते हैं। रानी हो कर भी हरिश्चन्द्र की सहधर्मिणी दासी की तरह ब्राह्मण के घर का सारा कामधन्धा किया करती थी। जब घर भर सो जाता, तब तो वह सोती थी और सब के पहिले उठ बैठती थी। उसे इस बात का ध्यान सदा बना रहता था कि कहीं मुझसे कोई खरी खोटी बात न कह बैठे। वह मारे लज्जा के अपना मुँह सदा ढाके रहती थी और जब घर के काम काज से छुट्टी पाती, तब राजा का स्मरण कर नित्य रोया करती थी। उसे यह दृढ़ आशा थी कि एक न एक दिन राजा, ब्राह्मण को धन दे कर उसे इस दासत्व वृत्ति से छुटा लेंगे। राजकुमार ब्राह्मणकुमारों के साथ रहता था और जैसा कोई उससे कहता वैसा ही वह किया करता था।

एक दिन की बात है, राजकुमार अपने साथियों के साथ वन में पूजा के लिये पुष्प और कुश तोड़ने गया। वहाँ एक काले सर्प ने उसे डस लिया। विषज्वाल से विकल हो, कटे वृक्ष की तरह राजकुमार भूमि पर गिरते ही मर गया। यह समाचार उसके साथियों ने उसकी माता को सुनाया। पुत्र के मरने का समाचार सुन, रानी मूर्च्छित हो गिर पड़ी। मूर्च्छा भङ्ग होने पर और ब्राह्मण की आज्ञा ले, आधी रात को वह वहाँ पहुँची, जहाँ राजकुमार मरा पड़ा था। पुत्र को गोदी में रख कर, वह विलाप करने लगी।

किसी प्रकार रोती चिल्लाती रानी पुत्र की लोथ को लिये हुए श्मशान पर पहुँची। वह चिता पर रख कर अपने पुत्र के मृतशरीर को फूँकना ही चाहती थी कि राजा ने उससे कफ़न माँगा। कफ़न माँगने के समय राजा की दृष्टि राजकुमार के शरीर के राजचिन्हो पर पड़ी। विस्मित और विस्फारित नेत्रों से राजा अपने औरस जात पुत्र को पहचान कर दुःखी हुए। रानी ने राजा के चाण्डाल होने का सारा हाल सुना और उसके शोक की मात्रा बहुत बढ़ गयी। राजा ने अन्त में कहाः—

राजा—वंश चलाने वाला एक पुत्र था जब वह भी न रहा, तब अब मैं जीवित रह कर ही क्या करूँगा?

रानी ने भी राजा के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। अन्त में दोनों ने एक बड़ी विशाल चिता बनायी। उस पर राजकुमार के मृतक शरीर को रख कर चाहा कि उसमें आग लगावें—उसी समय अचानक इन्द्रादि सारे देवता वहाँ उपस्थित हुए। धर्म ने राजा का हाथ पकड कर कहा --

धर्म—मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ। आप यह न समझिये कि आप चाण्डाल के दास बने थे। मै ही ने आपकी परीक्षा लेने के लिये चाण्डाल का वेष धारण किया था।

अनन्तर इन्द्र ने राजकुमार के शरीर पर अमृत छिड़का। राजकुमार तुरन्त उठ खड़ा हुआ। तब इन्द्र ने हरिश्चन्द्र से कहाः—

इन्द्र—राजन्! आप सचमुच सत्यवादी हैं, आपका धर्म पर अटल विश्वास है। अब आप स्त्री पुत्र समेत इस विमान में बैठिये। मनुष्य जिस लोक में किसी प्रकार भी नहीं जा सकते, वही लोक आपको इसी शरीर से प्राप्त होगा।

हरिश्चन्द्र—देवेन्द्र! मैं आपको बार बार नमस्कार प्रणाम करता हूँ। मेरा एक निवेदन है।

इन्द्र—कहिये, कहिये।

हरिश्चन्द्र—हमारे वियोग में हमारी राजधानी अयोध्या के निवासी विकल हैं। उनको विकल छोड़ कर स्वर्ग जाना मुझे स्वीकार नहीं। जो मनुष्य अपने आश्रित जनों को छोड़ता है, वह महापातकी होता है।

इन्द्र—अयोध्या में हर प्रकार के लोग रहते हैं। हरेक के पाप और पुण्य अलग अलग हैं। उन सब की एक सी गति कैसे हो सकती है?

हरिश्चन्द्र—प्रजा के श्रम से उपार्जित पदार्थों से, मैंने दान यज्ञ आदि शुभ कर्म किये हैं। अत उनके साथ चाहे एक ही दिन के लिये मुझे स्वर्ग मिले, मैं उसीसे सन्तुष्ट होजाऊँगा।

हरिश्चन्द्र के ऐसे उदार वचनों को सुन, देवराज इन्द्र और महाराज विश्वामित्र, जो वहाँ उस समय पहुँच गये थे, बोले—

विश्वामित्र—"तथास्तु" ऐसा ही हो।

सब देवता उन तीनों को अयोध्या ले गये और राजकुमार रोहित को राजगद्दी पर बिठाया। अनन्तर हरिश्चन्द्र और उनकी प्रजा के लोगों में से जिसने चाहा, उसे विमान पर बैठा, वे स्वर्ग ले गये। हरिश्चन्द्र की अचल कीर्त्ति की जड़ पाताल तक पहुँची और उसकी बेल ने स्वर्ग लोक को ढाँप लिया।

शिक्षा।

(१) इस विश्व में कर्म की प्रधानता सर्वसम्मत है। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। हरिश्चन्द्र ने अपने स्वार्थ के लिये एक ब्राह्मणकुमार को मोल लिया था, अत उन्हें भी अपने पुत्र को बेचना पड़ा। शुनःशेप की माता को गर्भ-जात पुत्र के वधार्थ लिये जाने का जितना कष्ट भोगना पड़ा था, उससे कहीं अधिक कष्ट हरिश्चन्द्र की पत्नी को पुत्र के मरने पर भोगना पड़ा।

नरक और स्वर्ग का तो मरने के बाद अनुभव होता है, किन्तु मनुष्यों को उनके अच्छे बुरे कर्म्मों का बदला हाथों हाथ यहीं मिल जाता है।

(२) दूसरी बात यह है कि अच्छे कार्य्यों के अनुष्ठान में यद्यपि आरम्भ में बड़ी बड़ी अड़चनें और कठिनाइयाँ आती हैं, किन्तु अच्छे काम का अन्तिम परिणाम शुभप्रद ही होता है। हरिश्चन्द्र को अपनी बात रखने के लिये और सत्य की रक्षा के लिये जैसे जैसे कष्ट सहने पड़े उनका स्मरण करने ही से शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। पर ऐसी कठिनाइयों को झेलकर अन्त में हरिश्चन्द्र की जैसी सद्गति हुई वह भी इसी उपाख्यान में दिखला दी गयी है।

(३) हरिश्चन्द्र ने जिस प्रकार अपने आश्रित प्रजावर्ग का सुख के समय ध्यान रखा, वैसे ही लोगों को अपने अभ्युदय काल में आश्रित जनों का सदैव स्मरण रखना चाहिये। उस समय हरिश्चन्द्र का आदर हमारी दृष्टि में कितना अधिक बढ़ जाता है जब वे आश्रित जनो को छोड स्वर्ग जाना स्वीकार नहीं करते हैं।

(४) इस उपाख्यान की अन्तिम शिक्षा यह है कि सत्य की महिमा अकथनीय है। आज हरिश्चन्द्र को हुए लाखों बरस बीत गये। तब से न जाने अयोध्या के राजसिंहासन पर कितने राजा बैठे यहाँ तक कि उस प्राचीन अयोध्या का चिन्ह तक न रहा, किन्तु सत्य-व्रत-धारी हरिश्चन्द्र का नाम और यश आबाल वृद्ध सभी आज तक गाया करते है।

१२-सौभरि का उपाख्यान ।

सौभरि नामक ऋक्वेदीय एक ऋषि बारह वर्ष से जल के भीतर बैठ कर तपस्या करते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि सम्मद नामक एक मत्स्य अपनी सन्तान के साथ आमोद में मग्न हो जल में इधर उधर घूम रहा है। उसे देखते ही ऋषि की इच्छा हुई कि हम भी इस मत्स्य की तरह गृहस्थी जैसा सुख अनुभव करें। ससार की ममता मे फँस उन्होंने तप करना छोड़ दिया और वे अपना विवाह करने के यत्न में लगे।

ऋषियों की अभिलाषाएँ सदा राजाओं द्वारा ही पूरी हुआ करती है, यह विचार कर सौभरि तत्कालीन अयोध्या के राजा के निकट गये। महाराज ने महर्षि को देखते ही यथाविधि उनको पाद्यार्घ्य दिया और उनकी तप सम्बन्धी कुशल पूँछी। तब ऋषि ने अपनी कुशल कह कर, यह कहा:—

सौभरि—महाराज! मैं अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हूँ। आशा है आप मेरी अभिलाषा पूरी करेंगे।

महाराज ऋषि की यह बात सुन बड़े उद्विग्न हुए। सोचते विचारते कुछ क्षणों के बाद उन्होंने कहा --

महाराज—आप इस समय तो इस दास के घर में आतिथ्य ग्रहण कीजिये । मैं शीघ्र ही आपकी आज्ञा का पालन करने का यत्न करूँगा ।

सौभरि—महाराज ! आपके अविवाहिता पचास राजकुमारियाँ हैं, उनका पाणिग्रहण करने को मेरी इच्छा है । आप मेरे इस प्रस्ताव पर सहमत होते हैं कि नहीं ?

जब प्रबलतपा महर्षि सौभरि विवाह करने के अर्थ कन्या चाहते हैं, तब क्षत्रियराज उनकी प्रार्थना किस प्रकार अस्वीकृत करें ? अतः महाराज को कहना पड़ा :—

महाराज—मेरी कन्याओं में से, जो जो आपके साथ विवाह करना चाहें मैं उसी उसी को आपके हाथ समर्पण कर दूँगा ।

इस प्रकार महर्षि को ढाँढस बँधा, महाराज ने उनका यथोचित अतिथ्य-सत्कार कर उनको परितृप्त किया । अनन्तर महर्षि राजप्रासाद में बुलाये गये । वहाँ उनके नयनाभिराम, सुकुमार शरीर के लावण्य को देखते ही, सब राजकुमारी उन पर मोहित होगयी और सब चाहने लगी कि इनके साथ विवाह करें । कोई कोई उनमें से धैर्य्य छोड कहने लगीं—"मैं अवश्य ही इनके साथ विवाह करूँगी ।' इसको सुन दूसरी बोली—"वाह ! तुम्हारे कहने के पूर्व मैं अपने मन में इनके साथ विवाह करने का संकल्प कर चुकी हूँ ।" इसी प्रकार ...ये ने ऋषि के साथ प्रणयसूत्र में आबद्ध होने की इच्छा ... की । सत्यसन्ध महाराज ने भी पचासों राजकुमारियाँ

का विवाह सौभरि के साथ कर दिया। महर्षि उन राज-कुमारियों को साथ ले वहाँ से चल दिये।

अनन्तर तप के प्रभाव से उन्होंने विश्वकर्मा का आह्वान किया और पचास राजप्रासाद के समान मनोरम हर्म्य बनाने की आज्ञा दी। तदनुसार विश्वकर्मा ने पचास हर्म्य बनाये। उनके चारों ओर अनेक प्रकार के वृक्षों से शोभित उद्यान बनाये गये। उनके बीच में विमल-सलिल-सम्पन्न दिव्य सरोवर थे। कहाँ तक गिनाया जाय संसार में भोग विलासियों को जितने विलास-साधनों की आवश्यकताएं होती हैं, वे सब विश्वकर्मा ने प्रस्तुत कर दिये।

इस प्रकार राजप्रासाद-विनिन्दित हर्म्यों में रह कर, महर्षि सौभरि. सदा पचासो राजकन्याओं के साथ भोग विलास मे समय विताने लगे। कुछ दिनो वाद एक दिन महाराज ने जानना चाहा कि हमारी लडकियॉ सुख में हैं कि दु.ख में। इस अभिप्राय से उन्हे देखने के लिये वे अपनी राजधानी से वाहर निकले। आगे वढते वढते वे एक निभृत अरण्य में पहुँचे और वहॉ देखा कि उनके राजप्रासादों से कहीं वढ़ कर, मणियो से रचित नयनमनोज्ञ हर्म्यावली सुरम्य उपवनों में शोभा विस्तार कर रही है। उसके समीप पहुँच और वहॉ के नौकर चाकरो से पूँछने पर, उन्हे विदित हुआ कि यही उनके जामातृ का घर है।

अनन्तर महाराज प्रत्येक हर्म्य में क्रमशः गये और अपनी प्रत्येक बेटी से अलग अलग मिले। कुशल पूँछने पर प्रत्येक ने कहा—'एक क्षण के लिये भी हमारे स्वामी हमें नहीं त्यागते और सदा हमारे साथ अनेक प्रकार के सुखों में समय

व्यतीत किया करते हैं।" उनमें से प्रत्येक सर्वदा स्वामि-सन्दर्श के सुख से सुखिनी है!—यह बात सुन कर, महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ! अपने जामातृ का ऐसा महत्व देख, उनका ऐश्वर्य-मद दूर हो गया और वे अपनी बेटियों की ओर से निश्चिन्त हो, अपनी राजधानी को लौट आये।

उधर सौभरि के औरस से उन पचासों स्त्रियों के बहुत से बाल बच्चे उत्पन्न हुए। जब वे बड़े हुए तब उनके भी विवाह हुए और उनके भी पुत्र पौत्र हुए। इस प्रकार महर्षि सौभरि का वंश उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया। इसीसे वे पुत्र पौत्र की ममता में पड़ कर तप को एक दम भूल बैठे। फल यह हुआ कि ज्यों ज्यों उनका वंश बढ़ने लगा, त्यों ही त्यों गृहस्थी में फँसने के कारण उनकी वंशवृद्धि की कामना बढती गयी।

इस प्रकार गृहस्थी में फँस कर, उन पचास स्त्रियों के सहित सुख भोग में अनेक दिन व्यतीत कर के, एक दिन अकस्मात् सौभरि ने सोचा—"गृहस्थी में तो सुख का नाम तक नहीं है। इसको तो दुःख का आगार यदि कहें, तो भी अत्युक्ति न होगी। हमारे इस शरीर के साथ ही साथ जो दु ख जन्मा था, वह इन पचास दाराओं के साथ विवाह करने से और भी अधिक बढ गया। यहाँ तक कि हम इस गृहस्थी के जञ्जाल में ऐसे फँसे कि ऋष्योचित कर्त्तव्य कर्म को सहसा छोड दिया। स्त्री हो या पुत्र हो—ये सभी आत्मबोध में बाधा डालने के साधन हैं और उनसे नये नये मनोरथों । उत्पत्ति होती है। साथ ही मनोरथों का कभी अन्त नहीं । । लाख वर्ष क्या, असंख्य वर्षों तक भोग करने पर भी

पूर्व पूर्व मनोरथों के पूर्ण होने के साथ ही साथ, नये नये मनोरथ उत्पन्न होते चले जाते हैं। सुतरां मनोरथों की गति अथवा उत्पत्ति का विराम कभी नही होता। अतएव ये सकल परम सुन्दरी स्त्रियाँ, अनन्त शिल्प-कौशल-सम्पन्न उपवन, विपुल-द्युति मय मणि-शोभित प्रासाद, मनोहर सुकुमार शरीर और अपत्य गण—दुःख ही के कारण है। हम इनमें क्यों वृथा फँसे! मनोरथासक्त चित्तवाला पुरुष कभी अपने अभीष्ट-साधन में समर्थ नही होता। ऐसे मनुष्य को कभी परमात्मा का साक्षात्कार नही होता। हा! मैं वृथा ही इस माया में पड कर अपने यथार्थ अभीष्ट को भूल वैठा।"

इस प्रकार जब सौभरि के मन में ज्ञान उदय हुआ, तब वे गृहस्थी को विषवत् परित्याग कर, फिर तप करने लगे। उनकी स्त्रियाँ भी ऋषि-पत्नियो की तरह विशुद्धभाव से समय व्यतीत करने लगी।

शिक्षा।

इस उपाख्यान से यह शिक्षा मिलती है कि सङ्गत का प्रभाव मनुष्य पर वहुत पडता है। यदि सङ्गत साधु की हुई तो मनुष्य अच्छाई ग्रहण करता है; और यदि बुरों की सङ्गत मिली, तो मनुष्य बुराई मे पड जाता है। यदि सौभरि सम्मद मत्स्य की सङ्गत में न पडते, तो उनका इतना अमूल्य समय क्यों गृहस्थी की झञ्झटो मे पड कर वृथा नष्ट होता?

१३-अम्बरीप नारद एवं पर्वत का उपाख्यान।

[हरि के दासन को डर काको ? चक्रसुदर्शन है रखवारो।]

सूर्यवंश में त्रिशङ्कु नामक एक इन्द्रोपम प्रबल पराक्रान्त चक्रवर्ती राजा थे अयोध्या उनकी राजधानी थी। उनकी महिषी पद्मावती सर्व सुलक्षण शोभिता, नित्य-शौच-समन्विता हो कर सदा नारायण की उपासना किया करती थी। कायमनो वाक्य से वह सर्वव्यापी विष्णु की उपासना ही में सम्पूर्ण-तया रत रहा करती थी। वह स्वयं माला बनाती और नारायण को अर्पण किया करती थी और अपने हाथ से चन्दन रगड कर नारायण के अर्चाविर्त्तार के गात्र में लेपन किया करती थी। स्वहस्त से हविष्यादि तयार कर नियम पूर्वक शुचि रह कर अयुत वर्ष से वह नारायण का अर्चन किया करती थी।

एक वार, द्वादशी का व्रत कर और श्रीहरि के मन्दिर में जाकर, रानी पद्मावती पति के साथ पडी हुई सो रही थी। उस समय परम पुरुषोत्तम नारायण ने पद्मावती से कहा:-

नारायण—हे भद्रे ! तुम वर माँगो, हे भामिनी ! तुम अपनी अभिलाषा प्रगट करो।

पद्मावती—हे प्रभो ! इस दासी की यही अभिलाषा है कि इसके गर्भ से एक वैष्णव सन्तान उत्पन्न हो और वह बालक बड़ा होने पर, स्वकर्म-निरत, नित्यशुचि महा तेजस्वी सार्वभौम राजा हो।

यह सुन भगवान् ने कहा तथास्तु और रानी के हाथ में एक फल देकर वे अन्तर्द्धान हो गये। अनन्तर रानी जागी और उस फल को खालिया। फिर यथा समय वह गर्भवती हुई। ज्यो ज्यो दिन जाने लगे, त्यों त्यों रानी के मुख पर एक प्रकार का विलक्षण तेज का सञ्चार होने लगा।

समय पाकर प्रसवकाल उपस्थित हुआ। रानी पद्मावती ने निष्कलङ्क चन्द्रमा के समान एक द्युतिमान पुत्ररत्न प्रसव किया। उसे देख आचार्य गण कहने लगे कि यह बालक विविध सुलक्षण युक्त होने के कारण कुलविवर्द्धन, सदाचारी एवं विष्णुभक्त होगा। महाराज त्रिशङ्कु ने शुभ क्षण में इस शोभन पुत्र का मुख देख कर, उसके समस्त जात संस्कार किये और उसका नाम अम्बरीष रखा।

अनन्तर महाराज त्रिशङ्कु ने परलोक-यात्रा की। अम्बरीष ने राजगद्दी पर बैठ कर मन्त्रियो की सहायता से दुरूह राज-शासन के साथ साथ स्वाध्यायादि कर्म भी किये। कुछ काल तक इस प्रकार कार्य कर चुकने के बाद, राज कार्य मन्त्रियों को सौंप, अम्बरीष उग्रतप करने लगे। लगभग सहस्त्र वर्ष तक वे सूर्य्य मण्डल मध्यवर्त्ती द्युतिमान् शङ्ख-चक्र गदा-पद्म-धारी

चतुर्भुज, महाबाहु, सहस्रशीर्ष नारायण का ध्यान, जप, पूजा आदि में लगे रहे। तब भगवान् विष्णु गरुड को ऐरावत बना और वासव मूर्त्ति धारण कर, उन तपोरत अम्बरीप के समीप गये और बोले —

नारायण—वत्स ! हम इन्द्र हैं, तुम क्या चाहते हो ? कहो वही तुम्हें दें।

अम्बरीष—हे इन्द्र ! मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता, आप यथेच्छ गमन कीजिये। मै तो नारायण की उपासना कर रहा हूँ। मेरे तो नारायण अभीष्ट देव है। उन्हींके प्रसाद से मेरे सकलाभीष्ट सिद्ध होंगे। आप से मैं कुछ भी नही माँगता। अब आप मेरी बुद्धि को विलोप न कीजिये, यही मेरी प्रार्थना है।

यह सुन इन्द्र रूपी नारायण ने अपना यथार्थ रूप धारण किया और अम्बरीष पर प्रसन्न हुए। फिर अपनी ज्योतिर्मयी मूर्त्ति दिखला कर, अम्बरीष को प्रसन्न किया। उस समय अम्बरीष नारायण को प्रणाम कर, उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति सुन कर, नारायण परितुष्ट हुए और अम्बरीष से कहा, "वर माँगो।"

नारायण—हे सुव्रत ! तुम मेरे परमभक्त हो, ऐसी कोई वस्तु नही जो तुम्हारे लिये अदेय हो। बोलो, तुम क्या चाहते हो ? तुमको वरदान देने के अर्थ ही मैं यहाँ आया हूँ।

अम्बरीष—भगवन् ! ऐसा कीजिये जिससे आपके चरणार-विन्द में सदा मेरी अनिवरत भक्ति बनी रहे और

मनसा, वाचा, कर्मणा सदा आपके प्रीत्यर्थ ही कार्य करता रहूँ। साथ ही समस्त जगत को वैष्णव बना कर, पृथिवी का पालन करने में समर्थ होऊँ और यज्ञ होमार्चन द्वारा सुरोत्तमों को तृप्त करता रहूँ। मुझमें ऐसी सामर्थ्य दीजिये जिससे मै विष्णुभक्तो का पालन और विष्णु के शत्रुओं का विनाश करता रहूँ। साँसारिक वासनाओ से विरक्त रह कर, शुभकर्म करने में मेरे मन की प्रवृति हो।

नारायण—ऐसा ही होगा सुदर्शन चक्र द्वारा, तुम्हारी तुम्हारे शत्रुओं से रक्षा की जायगी। सदा तुम्हारा कल्याण होगा।

यह कह कर भगवान् विष्णु अन्तर्द्धान हो गये।

भगवान् विष्णु से वर पाकर, राजा अम्बरीप अयोध्या लौट गये और सिहासन पर वैठ कर राज्य करने लगे, उन्होंने ब्राह्मणादि वर्णों को अपने अपने कर्मों में नियुक्त किया और निष्पाप विष्णु भक्तों का पालन करने लगे। सौ अश्वमेध और सौ वाजपेय यज्ञ किये और होमादि द्वारा देवताओं को तृप्त किया तथा पृथिवी का पालन किया। महाराज अम्बरीप के शासन काल में न तो पृथिवी कभी शस्यहीन हुई और न तृणहीन। उनके राजत्वकाल में कभी दुष्काल न पड़ा। प्रजा सदा सुखी रही। कभी कोई बीमारी न फैली। प्रजा निरुपद्रव हो, सुख स्वच्छन्द पूर्वक समय व्यतीत करती थी।

यथाकाल उनकी दयिता भार्य्या के गर्भ से शरच्चन्द्र-निभानना एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका नाम श्री मती रखा

गया। दिनों दिन, श्री मती की वयोवृद्धि के साथ ही साथ उसके अङ्गो की द्युति की उज्ज्वलता भी बढ़ने लगी। क्रम से श्रीमती यौवन सीमा पर पहुँची। उसके शरीर की ज्योति से मानों दिगन्त उद्भासित होने लगे। इस प्रकार रूप-लावण्यवती श्रीमती एक दिन एक केलि-सरोवर में सखियों सहित क्रीड़ा कर रही थी। इतने में घूमते फिरते वहाँ देवर्षि नारद और पर्वत जा निकले। अनन्तर वे दोनो महाराज अम्बरीष के पास गये और महाराज से मिले। महाराज अम्बरीष ने उन दोनों का यथाविधि पूजन किया और कुशल पूँछी। अनन्तर उन दोनो ने अम्बरीष से उस देवमाया के समान शोभना, सर्व-सुलक्षण-सम्पन्ना, आगत यौवना, रममाणा राजकुमारी के विषय में प्रश्न किया। उसके उत्तर में अम्बरीष ने कहाः—

अम्बरीष—महाभाग ! यह मेरी ही कन्या है, उसका नाम श्रीमती है, उसके लिये वर ढूढ़ते ढूढ़ते वह इतनी बड़ी हो गयी है।

नारद—महाराज, मैं इस कन्या के साथ पाणिग्रहण करना चाहता हूँ, आपकी क्या इच्छा है ?

पर्वत—महाराज ! मेरी भी इच्छा है कि मैं इसी कन्या के साथ विवाह कर के सुखी होऊं। इस विषय में आपकी क्या इच्छा है ?

अम्बरीष—हे देवर्षिद्वय ! आप दोनों ही इस कन्या के साथ विवाह करना चाहते हैं। तब मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आप दोनों में से राजकुमारी जिसे वरे, मैं उसीके साथ उसे विवाह दूँगा।

यह सुन दोनो महर्षि मन ही मन प्रसन्न होते हुए वहाँ से चल दिये।

देवर्षि नारद वहाँ से विष्णु लोक मे गये और नारायण को साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोले :—

नारद—प्रभो ! कुछ कहना है। उसे मै एकान्त में कहना चाहता हूँ।

नारायण—(मुनक्या कर) हे देवर्षे ! तुम्हे क्या कहना है, कहो न ?

नारद—प्रभो ! आपके भक्त अम्बरीष के श्रीमती नाम्नी परमसुन्दरी एक कन्या है। उसके साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट कर, मैं वहाँ से चला आया हूँ। आपका दास पर्वत भी उस विशालाक्षी मोहिनी श्रीमती का पाणिग्रहण करने का प्रयासी है। यह जान कर महाराज अम्बरीष ने कहा है कि कन्या जिसे बरेगी मै उसीको कन्यादान दूँगा। इसीसे आज सवेरे ही मैं अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। अब आप मुझ पर प्रसन्न होकर ऐसा कीजिये जिससे पर्वत का मुख वन्दर जैसा होजाय। यह काम आपको करना ही पडेगा।

नारद को इस प्रकार काम-परतंत्र देख कर, नारायण ने उनसे कहा "अच्छा जाओ ऐसा ही करूँगा" और उनको विदा किया।

देवर्षि नारद मन ही मन प्रसन्न होते वहाँ से अयोध्या की ओर प्रस्थित हुए। उनके वहाँ से विदा हो के कुछ ही क्षण बाद

देवर्षि पर्वत वहाँ गये। उन्होंने भी नारद की तरह एकान्त में अपनी मनोभिलाषा नारायण के सामने प्रकट करते हुए कहाः—

पर्वत—भगवन्! ऐसा कीजिये जिससे नारद का वानर जैसा मुख हो जाय। ऐसा होने ही से हमारी अभिलाषा पूर्ण हो सकेगी।

"ऐसा ही करेंगे" कह कर नारायण ने पर्वत को भी विदा किया। भगवान् विष्णु का प्रसाद लाभ कर, देवर्षि पर्वत भी मन ही मन प्रसन्न होते हुए, अयोध्या की ओर प्रस्थानित हुए।

उधर अयोध्या में श्रीमती के स्वयम्वर के लिये प्रशस्त सुन्दर एक सभामण्डप तयार किया गया। क्रमशः नारद और पर्वत भी उस मण्डप में उपस्थित हुए। महाराज अम्बरीप ने दोनों ही देवर्षियों का अर्घ्यपाद्य से यथाविधि पूजन किया। अनन्तर शुभ मुहूर्त्त में राजकुमारी श्रीमती माल्यालङ्कारादि द्वारा भूपिता एवं सुलोहितवदना सुसज्जिता होकर, स्वयम्वर सभा में पहुँची। उस समय बड़े आदर से अम्बरीप ने श्रीमती को सम्बोधन कर कहाः—

अम्वरीप—कल्याणी! तेरे पाणिग्रहण के लिये दो देवर्षि आये हुए हैं—इनमें से जिसे तू चाहे वरण कर।

यह सुन श्रीमती उस ओर गयी जहाँ दोनों देवर्षि बड़ी अकड़ के साथ बैठे भावी सुख के विचारों के घोड़े दौड़ा रहे थे। उन दोनों के मुख की बन्दर जैसी आकृति देख, श्रीमती सिर नीचा कर, उनके सामने कुछ क्षण तक खड़ी रही — [illegible] देवर्षियों के मुख की बन्दर जैसी आकृति देख कर,

बड़ी विस्मित हुई। अन्त में अपने भाग्य को दोष देती हुई, विषण्ण होकर, वह वाताहत कदली की तरह पृथिवी पर गिर पड़ी।

यह देख अम्बरीष ने दौड़ कर उसे उठाया और जब वह प्रकृतिस्था हो गयी, तब उससे पूँछा :—

अम्बरीष बेटी! क्या हुआ? इन दो मे से किसी के गले में जयमाल डाल दे।

श्रीमती—पितृदेव! मुझे दोनों देवर्षियों में से एक भी नहीं दिखलाई पडता। इन दोनों की आकृति तो नर-वानरों जैसी है किन्तु उन दोनो के बीच में षोड़षवर्षीय, दीर्घबाहु, विशालाक्ष, प्रशस्तवक्ष नानालङ्कार-भूषित एक देवमूर्त्ति दिखलाई पड़ती है। वह पीताम्बर पहने हुए है हाथ में अकण्टक पद्म है, वक्षस्थल में कौस्तुभमणि है। वह ठीक लक्ष्मी सेवित नारायण जैसी प्रतिमा है।

यह सुन नारद ने कहा :—

नारद हे शुभे! उसके कितने हस्त है?

श्रीमती—दो।

पर्वत—शुभगे! उसके हाथों में क्या है?

श्रीमती—शर और कार्मुक।

नारद और पर्वत—यह किसी मायावी की माया होगी।

इसके बाद उन दोनों ने एक दूसरे के मुख के वर्णन को सुन कर, स्थिर किया कि जान पड़ता है, स्वयं जनार्दन ही ने यह माया रची है।

इतने में महाराज अम्बरीष उन दोनों के पास जा कर और हाथ जोड़ कर बोले :—

अम्बरीष—महाभागद्वय ! आप अपने अपने निज रूप धारण कीजिये। आपके मुख की वर्त्तमान स्थिति देख कर हमारी राजकुमारी यह निश्चय करने में असमर्थ है कि वह किसे वरण करे।

दोनों महर्षि—महाराज ! तुमने हम दोनों को मायामुग्ध कर दिया है, तुम्हारी कन्या अपनी इच्छानुसार हम में से किसी को क्यों वरण नहीं करती ?

राजकुमारी श्रीमती अपने इष्टदेव को स्मरण कर ज्यों ही वरमाल लेकर गयी, त्यों ही दोनो देवर्षियो के बीच में उसे फिर वही दिव्य मूर्त्ति दीख पडी। तब उसने अविलम्ब वरमाल उनके गले में पहना दी। तब नारायण ने श्रीमती का पाणिग्रहण किया और वे वहाँ से अन्तर्द्धान हो गये।

अनन्तर नारायण ने अन्तरिक्ष से उच्चस्वर से कहा:—

नारायण—नारद ! तुम्हारी प्रार्थनानुसार जिस प्रकार पर्वत का वानर जैसा मुख हुआ, वैसा ही पर्वत की प्रार्थनानुसार तुम्हारा वानर जैसा मुख हो गया। कामवान हो कर, तुमने जैसी प्रार्थना की थी, उसका फल भी तुम्हें वैसा ही मिला।

इसमें हमने न तो कोई अनहोना काम किया और न इसमें हमारा कोई दोष है।

दोनों देवर्षि—प्रभो! इसमें आपका दोष ही क्या है? यह सारा दौरात्म्य अम्बरीष का है। हमारे साथ छल कर, इसने कुमारी को छिपा दिया। अतः इसको हम विना शाप दिये न मानेंगे। (अम्बरीष के प्रति) हमको आमंत्रण देकर, तूने गुपचुप कन्यादान दूसरे को दिया है, इससे हे महाराज! तुझको तमो द्वारा अभिभूत होना पड़ेगा।

देवर्षिगण के शाप से तम का आविर्भाव हुआ, किन्तु अम्बरीष को वह तमोराशि स्पर्श भी न कर पायी थी कि उसे सुदर्शन चक्र ने झटपट भस्म कर दिया। यह कर सुदर्शन चक्र ने दोनों देवर्षियों का पीछा किया। दोनों देवर्षि संत्रस्त हो कर अनेक स्थानों में घूमे फिरे, किन्तु कहीं भी उनका भय दूर न हो पाया। हार कर अन्त में वे नारायण के समीप गये और बोले—'भगवन्! अम्बरीष जिस प्रकार आपका भक्त है, वैसा ही वह हमारा भी है। अत: आप हमारी रक्षा कीजिये।" यह सुन भगवान् कहने लगे:—

नारायण- [illegible] को ब्राह्मण का शाप स्पर्श भी न कर पावेगा, यदि करने जायगा, तो हमारा सुदर्शन चक्र उससे राजा की रक्षा करेगा। इसके विपरीत कोई घटना नहीं हो सकती। अच्छा अब जो हुआ सो हुआ, आप दोनों अपने शाप को लौटा लीजिये हमारा सुदर्शन चक्र भी लौट जायगा।

यह सुनते ही दोनों देवर्षियों ने अपने अपने शाप लौटे लिये और महाराज अम्बरीप इस प्रकार ब्रह्मशाप से मुक्त हुए।

प्रताप-शाली, संयमीप्रधान, लोकपालयिता, नृपसत्तम अम्बरीप को उसकी प्रजा के लोग मूर्त्तिमान पुण्य बतला कर, उसका कीर्त्तन करते थे। महाराज ने अयुत यज्ञ किये थे। यज्ञ करने के समय, वे दशलक्ष नृपतियों को, समागत ब्राह्मणों की सेवा शुश्रूषा के अर्थ, नियुक्त करते थे और उस समय के दीर्घदर्शी लोग, महाराज के इन महत्-कार्य्यों को देख, उनकी यथेष्ट प्रशंसा किया करते थे। महाराज ऐसे पुण्यकर्मा थे कि यज्ञ करते समय, जो जो राजे ब्राह्मणों की सेवा किया करते, वे सब नरपति भी महाराज अम्बरीप के माहात्म्य के प्रभाव से, अश्वमेध के फलभागी हो कर, उत्तरायण पथ द्वारा, हिरण्यगर्भ लोक को चले जाते थे। महाराज अम्बरीप ने यति ब्राह्मणों को एक अर्व गौदान किये और प्रजा सहित स्वर्गारोहण का पथ प्रशस्त किया। अन्त में असीमतेजाः ब्राह्मणों को समग्र राज्य दान करके, महाराज सुरलोक सिधारे। महाराज अम्बरीप का धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य असीम था।

सुदुर्लभ सुरलोक में पहुँच कर, अम्बरीप अपने सेनापति सुदेव की समृद्धि देख कर, बड़े विस्मित हुए और देवराज वासव से इसका कारण पूँछा। उत्तर में देवराज ने कहाः—

देवराज इन्द्र—हे तात! पहले इस सुदेव ने अनेक सुमहान संग्रामयज्ञों का विस्तार किया था, हमारा इन्द्रत्व भी इसी यज्ञ का फल स्वरूप है।

अनन्तर इन्द्र ने योद्धावर अम्बरीष की यथेष्ट सम्वर्द्धना की। इससे देव अम्बरीष बहुत प्रसन्न हुए।

शिक्षा।

(१) जो वेष हो उसके अनुसार ही कर्म भी होना चाहिये। देवर्षि हो कर श्रीमती का पाणिग्रहण करना सर्वथा विरुद्ध कार्य था।

(२) जो दूसरों का काम बिगाड कर, अपना कार्य बनाना चाहता है, उसकी वही गति होती है जो नारद और पर्वत की वानर की आकृति से हुई।

(३) जो भगवद्भक्त है, उन्हे किसी का भय नहीं। उनकी रक्षा सदा सुदर्शन चक्र किया करता है।

(४) वर्णोचित एवं पदोचित कर्त्तव्य-पालन ही महायज्ञ है। सुदेव ने क्षत्रिय हो कर, समरयज्ञ किये, जिसके परिणाम में वे स्वर्गसुखों के भागी हुए।

१४-अनी[1] माण्डव्य का उपाख्यान।

[पातिव्रत्य का महात्म्य।]

प्राचीन काल में माण्डव्य नामक सर्वधर्म वेत्ता, धृतिमान, सत्यनिष्ठ तपोनिरत एक विख्यात ब्रह्मर्षि थे। वेही महातपाः महर्षि अपने आश्रम के द्वार पर एक वृक्ष के नीचे ऊर्द्ध्व बाहु हो और मौनव्रत धारण कर, बहुत दिनों तप करते रहे। उनका एकमात्र लक्ष्य था परमात्मा के साक्षात्कार से विमल सुख का उपभोग करना। इससे वे बाह्यज्ञान से विरहित हो गये और पार्थिव किसी भी व्यापार में उनकी दृष्टि न रही।

उसी समय कई एक चोरों ने तत्कालीन राजा के राज-प्रासाद में जाकर बहुत सी बहुमूल्य वस्तुएँ चुराईं। उन वस्तुओं को लेकर जब वे भाग रहे थे, तब पुररक्षकों ने उनका पीछा किया। चोर डर के मारे भागते भागते माण्डव्य मुनि के आश्रम में पहुँचे और चुराई हुई वस्तुओं को मुनि की कुटी के द्वार पर रख कर वे भी दूर दूर वृक्षों के नीचे बैठ और मौना-वलम्बन कर, तप करने लगे।

---

(१) शुद्ध संस्कृत शब्द अणी है, जिसका अर्थ नोक है।

उधर तस्करानुसन्धानी रक्षक अनुसन्धान करते करते माण्डव्य मुनि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक तपोनिष्ठ ऊर्द्ध्ववाहु ऋषि ध्यान में मग्न बैठा है और उसकी कुटी के द्वार पर, अपहृत धनादि पड़ा हुआ है। यह देख उन लोगों ने ऋषि से पूँछा।

रक्षकगण—हे ब्रह्मन्! चोर, इस धनादि को यहाँ डाल कर किस ओर गये?

उनके इस प्रश्न का उत्तर मौनव्रतधारी माण्डव्य ऋषि ने कुछ भी न दिया। क्योंकि वे तो ब्रह्म के ध्यान मे मग्न थे और वाह्यज्ञान को विसर्जन कर चुके थे, आत्मतत्व के अधिकारी होकर, वे परम प्रसाद उपभोग कर रहे थे। वे उन रक्षकों की बातों को सुन ही किस प्रकार सकते थे। सुतरां ऋषि ने उन राजपुरुषों के प्रश्न पर कुछ भी ध्यान न दिया। तदनन्तर उन राजपुरुषों ने उस आश्रम के चारों ओर ढूढ़ते ढूढ़ते, उन छद्मवेषधारी चोरों को देखा। यह देख उन लोगों का सन्देह वढ़ा और उन्होंने समझा कि यह ऊर्द्ध्ववाहु ब्राह्मण ऋषि नही है, छद्मवेशी दस्युदलपति है। ये चोर चारो ओर से जो कुछ चुरा कर लाते हैं, सो सब इस छद्मवेशी को लाकर दे दिया करते हैं। अतएव इस कपटाचारी ऋषि को इन चोरों सहित पकड़ कर ले चलना चाहिये।

इस प्रकार विवेचना करके राजपुरुषों ने उन चोरों के सहित महर्षि माण्डव्य को भी पकडा और उन्हें दृढ़ रस्सी से बॉध कर, राजा के सामने उपस्थित किया। साथ ही आदि से अन्त तक सारा हाल कह सुनाया। राजा ने सन्देहवश मुनि को चोरों के दल का मुखिया समझ, चोरों सहित उन्हें सूली पर चढाने

की आज्ञा दे दी। राजा ने उन महातपाः ऋषि को सूली पर चढ़वा तो दिया, किन्तु ऋषि का तप तो भी भङ्ग न हुआ।

राजा की आज्ञानुसार ज्यों ही चोर सूली पर चढ़ाये गये त्यों ही उनके शरीर भिद् गये और वे मर भी गये, किन्तु धर्म्मात्मा ब्रह्मर्षि सूली पर बैठ कर भी, मृत्यु के मुख में पतित न हुए। तपोबल द्वारा वे अपने प्राणों की रक्षा करते रहे। उनकी इस महती शक्ति का परिचय पाकर, सब लोग विस्मित और आश्चर्यान्वित हुए। ऋषि की इस महती शक्ति को देख कर, राजा के मन में विशेष चिन्ता उत्पन्न हुई।

उस राजा के राज्य में एक गलित कुष्ठी रोगाक्रान्त ब्राह्मण रहता था। उसकी एकमात्र जीवन सङ्गिनी भार्य्या बड़ी पतिव्रता थी और पति की मन लगा कर सेवा किया करती थी। लोग उसे साक्षात् मूर्त्तिमती पतिव्रता कह कर, यथेष्ट भक्ति करते थे। उसके पातिव्रत्य की कथा को लेकर, उस राज्य में सदा आन्दोलन और आलोचना हुआ करती थी। वह पतिव्रता ब्राह्मणी कुष्ठीपति की यथोचित सेवा शुश्रूषा करके, भिक्षा माँगने जाया करती थी। फिर भिक्षान्न का पाक बना, और पति की क्षुधा निवृत्ति कर, जो कुछ भुक्तवशिष्ट रहता, उसे अमृतोपम समझ, सादर स्वयं खालिया करती थी। इस प्रकार उस दम्पति को समय बिताते, बहुत काल व्यतीत हो गया। ब्राह्मण अपने एकमात्र अवलम्बन रूपी कलत्र को जो आज्ञा देता, पतिव्रता ब्राह्मणी तत्क्षण वही किया करती थी।

एक बार उस कुष्ठीब्राह्मण ने अपनी भार्य्या से कहा —

ब्राह्मण—देख प्रिये! बहुत दिन हुए मैंने सुप्रवाहिता नदी के जल में स्नान नहीं किये। यदि तू मुझे भागीरथी

के जल में स्नान करा लावे तो मेरा मन बहुत प्रसन्न हो।

ब्राह्मणी ने भर्त्ता की 'यह इच्छा जान कर, पति को अपने कन्धे पर बिठा कर गङ्गास्नान कराने ले चली। उसी समय तिलोत्तमा सदृशी रूपवती नानालङ्कार भूषिता, दिव्या वाराङ्गना, सहचारियों सहित, स्नान करने के लिये गङ्गा तीर पर पहुँची। कुष्ठीब्राह्मण उस मनोहारिणी वाराङ्गना को देख, उसके रूप पर मुग्ध हो गया। उसके मन मे उस वाराङ्गना के साथ सहवास करने की कामना उत्पन्न हुई। अपने शरीर की दशा पर विचार कर, उसने अपने मन की वासना, अपने मन ही मे छिपाने का यत्न करना चाहा। उधर स्वामी को स्नान कराने के यत्न में लगी हुई पतिव्रता ब्राह्मणी, स्वामी के मन की चञ्चलता का कारण न जान सकी। वह बडे यत्न से स्वामी के शरीर के घावों को धीरे धीरे धो कर, उनको प्रसन्न करने मे लगी थी। पति को स्नान करा कर और अपने कन्धे पर चढा कर, वह घर ले गयी। फिर घर का आवश्यक कामधन्धा करके वह भिक्षा माँगने घर से निकली। पति के लिये आहार बनाने में विलम्ब न हो, इससे वह झटपट भिक्षान्न लाने को गयी।

उधर कुष्ठीब्राह्मण घर में बैठा बैठा, उस मनोहारिणी वाराङ्गना के ध्यान में रत था। हा! यह कामदेव ऐसा अन्धा है कि इसे पात्रापात्र का कुछ भी बोध नही। चिरकाल से व्याधि यन्त्रणा से नष्टस्वास्थ्य कुष्ठीब्राह्मण के हृदय मे भी काम की उद्दीपना! कामदेव के कुसुमशर से कुष्ठीब्राह्मण का हृदय आज अत्यन्त विचलित है। किस प्रकार वह उस वाराङ्गना के रूपसागर के पार हो। इसी चिन्ता में ब्राह्मण देव आज रत है।

किन्तु अपनी अवस्था को देख और हताश हो कर, बार बार वह उसाँसे ले रहा है।

कुष्ठीब्राह्मण नैराश्य का विकट हास्य देख कर, जिस समय दुःसह यंत्रणा अनुभव कर रहा था, उसी समय पतिव्रता, भिक्षा के तण्डुल आदि लिये हुए लौट कर घर आयी। पति को उदास देख, उसने समझा कि पति भूख के मारे विकल है। अतएव वह शीघ्र शीघ्र उन चाँवलों को राँधने लगी। फिर थाली में यथास्थान शाक, दाल, भात आदि परोस कर, स्वामी के सामने उसे जा रखी। भोजन के समय भी पति को विमना देख कर, पतिव्रता को बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई।

अन्त में भोजन के बाद आचमनादि करा कर, उसने पति को शय्या पर लिटाया और वह पैर दाबने लगी, किन्तु तब भी पति को चिन्तित देख, उनसे पतिव्रता ब्राह्मणी ने चिन्ता का कारण पूँछा। ब्राह्मण ने अपनी पतिव्रता स्त्री को इस प्रकार प्रश्न करते देख, पहले तो लज्जावश 'कुछ नहीं" कह कर, सत्य का अपलाप किया, किन्तु पति को उद्विग्न देख, पतिव्रता के मन में जो उद्वेग उत्पन्न हुआ था, वृथा असत्य अपलाप से उसका निराकरण न हो पाया। अन्त में पत्नी के बारबार अनुरोध करने पर ब्राह्मण ने कहा —

ब्राह्मण— देखो प्रिये! कहने में लज्जा लगती है, किन्तु अब उस बात को छिपाने से भी काम नहीं चलता। गङ्गास्नान के समय, जो मनमोहिनी वाराङ्गना गङ्गास्नान करने आयी थी, उसके मिलने की उत्कण्ठा मुझे विकल कर रही है। मेरी ये वासना उस वामन पुरुष जैसी है, जो चन्द्रमा

को पकड़ना चाहता है! किन्तु यह जान कर भी मेरी उत्कण्ठा विलीन नहीं होती। अपनी इस वासना को मै कैसे पूरी करूँ, इसी चिन्ता से मेरा मन उद्विग्न हो रहा है।

उस पतिव्रता ने पति के मन की बात जान कर, पति की वासना पूरी करने के लिये उस वाराङ्गना के यहाँ दासी-वृत्ति करने को स्वयं नियुक्त हुई। वह नित्य सवेरा होते ही उस वाराङ्गना के घर जाती और घर में झाड़ू बुहारी लगा कर, लौट आती थी। किन्तु न तो वह वाराङ्गना और न उसकी दासी जान पाती थी। उधर इस पतिव्रता के झाडने बुहारने से उसके घर की शोभा इतनी बढ़ी कि वाराङ्गना को उसे देख बड़ा विस्मय हुआ। 'कौन नित्य घर में झाड़ू बुहारी लगाता है"—यह जानने के लिये एक दिन वह वाराङ्गना सारी रात जाग कर चौकसी करती रही। बड़े तडके ज्यों ही वह ब्राह्मणी हाथ में बुहारी लेकर घर में घुसी, त्यों ही उस वाराङ्गना ने उस ब्राह्मणी का हाथ पकड कर उससे पूँछा:—

वाराङ्गना—देवि! तुम कौन हो? तुम मुझ जैसी घृण्य वेश्या के घर में बुहारी लगाने क्यों आती हो? तुम्हारे इस कार्य को देख मैं बड़ी शङ्किता हूँ। माता! तुम अपना अभिप्राय बतलाओ।

पतिव्रता—वत्से! मेरा पति कुष्ठी रोगाक्रान्त है। एक दिन मैं उसे गङ्गास्नान कराने ले गयी थी। उसी दिन तुम भी गङ्गास्नान करने गयी थी। वहाँ मेरे पति ने तुम्हे देख लिया। तब से वह तुम्हारे रूप लावण्य को देख तुम्हारे सहवास की लिप्सा से

बड़ा उद्विग्न रहता है, किन्तु तुम्हारे व्यवसाय में अर्थलिप्सा है, और हम लोग भिक्षोपजीवी हैं । फिर उसकी यह आशा किस प्रकार पूर्ण हो ? यदि तुम्हारी प्रसन्नता का फल स्वरूप, मेरे स्वामी सन्तुष्ट हों तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ।

वाराङ्गना—देवि ! जब मेरा जन्म ही पुरुषों को तृप्त करने के लिये हुआ है, तब मैं तुम्हारे पति को क्यों तृप्त न कर सकूंगी ? तुम आज अपने पति को मेरे घर लिवालाना । मैं उसकी अभिलाषा पूर्ण कर दूंगी ।

यह सुन ब्राह्मणी मन ही मन प्रसन्न होती हुई, भिक्षा मांगने गयी । फिर समय उपस्थित होने पर, पति को अपने कन्धे पर चढ़ा कर, वाराङ्गना के घर पहुंची । वाराङ्गना ने कुष्ठीब्राह्मण का बड़ा आदर सत्कार किया । अन्त में ब्राह्मण ने पथश्रम से क्लान्त होने के कारण जल मांगा । तब वाराङ्गना ने स्वर्ण, रौप्य, कांसा, पीतल, पत्थर और मिट्टी के बरतन में जल भर कर उस काममोहित ब्राह्मण को दिया और विनीत भाव से प्रार्थना की :—

वाराङ्गना—प्रभो ! इन पात्रों में से थोड़ा थोड़ा जल पान कीजिये ।

ब्राह्मण ने पहले स्वर्ण पात्र से, फिर रौप्य पात्र का जल पान किया । इसी प्रकार प्रत्येक पात्र का, यथाक्रम जल पान कर अन्त में मिट्टी के पात्र का जल पान कर, वह परितृप्त । उस समय वाराङ्गना ने उससे पूछा—

वाराङ्गना—प्रभो! इन पात्रो में से किस पात्र का जल शीतल, स्निग्ध और सुखसेव्य है।

ब्राह्मण—मिट्टी के पात्र का जल ही यथार्थ मे तृषापहारक है।

वाराङ्गना—देव! मै पीतल पात्र के समान हूँ। मेरे अन्तर्निहित रस के भोगने से शान्ति नहीं मिल सकती। लोग केवल वाह्य व्यापार पर मुग्ध हो कर अपना उद्देश-साधन करते है, स्वर्णपात्र मे भरा जल यद्यपि बड़ा सुन्दर जान पडता है और मूल्यवान भी समझा जाता है, किन्तु उसके जल से तृषा दूर नही होती, उसी प्रकार—मेरी वाहिरी चटक मटक होने पर भी, मेरा मूल्य पीतल के पात्र के समान ही रस को बिगाडने वाला है। इसीसे उपेक्षा के योग्य है। मैं लोगों के मन के यथार्थ प्रेमरस का विधान करने में असमर्थ हूँ। मिट्टी के पात्र के समान, वाह्यत, निरलङ्कार पात्र ही यथार्थ स्निग्ध प्रेमरस को पूर्ण करने मे समर्थ है।

वाराङ्गना की वातों को सुन कर, ब्राह्मण के हृदय में ज्ञान का सञ्चार हुआ। उसने उस वाराङ्गना के साथ सहवास न किया, किन्तु उसके सद्व्यवहार से परम प्रसन्न हुआ और उसे आशीर्वाद देने लगा। अन्त में अपनी पतिव्रता भार्य्या से कहा कि मुझे घर ले चल। यह सुन ब्राह्मणी ने उसे अपने कन्धे पर विठा लिया और वह अपने घर की ओर चल दी।

रात अन्धेरी थी, ब्राह्मणी पूर्व परिचित मार्ग पर स्वामी को कन्धों पर चढ़ाये चली जाती थी। जब वह श्मशान भूमि के समीप पहुँची, तब अचानक उसका शरीर, सूली पर आरुढ़ माण्डव्य मुनि के पैर से टकरा गया और पतिव्रता के अङ्ग स्पर्श ही से माण्डव्य ऋषि का ध्यान भङ्ग हो गया। तब तो क्षुब्ध होकर, मुनि ने शाप दिया—"हे भामिनि! तुमने जिस प्रकार हमारा तप भङ्ग किया है, उसी प्रकार सूर्य्योदय के साथ ही साथ तुमको विधवा होना पडेगा।"

माण्डव्य मुनि के पाद से पतिव्रता का शरीर अनजाने टकरा गया था, किन्तु इस अज्ञातभाव कृत कर्म का इतना गुरुतर दण्ड उसे मिले! इससे पतिव्रता ने उन शाप को सुन कर कहा —"सूर्य्यदेव! तुम अब उदित ही न होना।"

पतिव्रता स्त्री का वाक्य भला अन्यथा क्यों होने लगा? सूर्य्यदेव उदय ही न हुए। विश्वभर में अन्धकार का चिर-राज्य स्थापित हुआ, सृष्टि के नाश का उपक्रम होने लगा। तब ब्रह्मा को आगे कर, सब देवगण उस पतिव्रता के समीप गये और विनय पूर्वक बोले —

देवगण—माता! सूर्य के उदय होने की आज्ञा दो, नहीं तो इस धराधाम के ध्वंस होने की पूर्ण सम्भावना है।

पतिव्रता—सूर्य्योदय होने पर तो मेरे पति की मृत्यु होगी। यदि ऐसा न हो, तो मैं अपनी आज्ञा को लौटा सकती हूँ।

देवगण—माता! ऋषि वाक्य तो अप्रतिहार्य्य है। विश्व की रक्षा के लिये, विश्व के प्राणियों के हितार्थ सूर्य्य के उदय होने की आज्ञा दो।

पतिव्रता—देवगण! जिस प्रकार आप लोग विश्वस्थ प्राणियो की हितकामना के अर्थ सूर्य्योदय की मुझसे प्रार्थना कर रहे है, उसी प्रकार आपको उचित है कि मेरे हित की ओर भी दृष्टिपात करें। क्या मै आपके प्रिय विश्व के बाहिर हूँ? यदि आप मेरा हितसाधन करने में असमर्थ है, तो आप मे देवता हो कर, देवत्व विशिष्टत्व ही क्या है?

देवगण—महीयसि! तुम्हारे पातिव्रत्य के सामने हमारा देवत्व अतीव अकिञ्चित्कर है, किन्तु माता, तुम्हारी महीयसी शक्ति के प्रकोप से जगत मे यज्ञयागादि के अनुष्ठान वन्द हो गये। पृथिवी की उर्वरा शक्ति जाती रही। जिस प्रकार यज्ञानुष्ठान के विना देवलोक में दुःख उपस्थित है, उसी प्रकार शस्य विना मर्त्यलोक में भी दुःख उपस्थित है। माता! अब तुम्हारी कृपा विना इस ससार का कष्ट दूर हो ही नही सकता। माता! जिस प्रकार महारानी लक्ष्मी की कृपादृष्टि से जगत की रक्षा और उनके कोप से जगत का नाश होता है, उसी प्रकार तुम्हारी कृपा दृष्टि के विना जगत की रक्षा नही हो सकती। अब आप प्रसन्न होकर विश्व की रक्षा करो!

पतिव्रता—यदि पति की मृत्यु ही हुई, तो विश्व की रक्षा करके ही मैं क्या करूँगी? पति ही तो मेरा विश्व का सार है।

ब्रह्मा—माता! ऋषिवाक्य की मर्यादा रखने के अर्थ, तुम्हारे पति की एक क्षण के लिये मृत्यु होगी, पीछे वह

अक्षत दिव्य देह प्राप्त करेगा। अब तुम सूर्य्योदय की आज्ञा दो।

लोकपितामह ब्रह्मा की बाते सुन, पतिव्रता ब्राह्मणी ने कहाः—

ब्राह्मणी—हे ब्रह्मन्! आप इस चराचर विश्व ससार के सृष्टिकर्त्ता है। जिस प्रकार आप सृष्टि ससार के साधारण जीवो के प्रति अनुकूल है, उसी प्रकार निश्चय ही मेरे प्रति भी है और इस सृष्टि के ध्वस होने का उपक्रम देख आप जैसे विचलित हुए है, वह भी मुझे विदित है। मै इस विश्व के बाहिर नहीं हूँ, सुतराम् मेरी भी आपके द्वारा अवश्य ही रक्षा होनी चाहिये। आपके मुख से निसृत वाणी ही नित्य सत्य वेद कहलाती है। अनृतवाक्य तो आपके मुखसे कभी निकलता ही नहीं। अतएव आपके द्वारा अङ्गीकृत मेरे पति का पुनर्जीवन और दिव्य देह लाभ कभी अन्यथा न होगा। मुझे इस बात पर पूर्ण विश्वास है। हे भगवान् ऋतवाक्! मै आपकी बात पर विश्वास करके, सूर्य के उदय होने का आदेश देती हूँ—हे सूर्यदेव! मै देव गण के अनुरोध से तुमको उदित होने का आदेश देती हूँ।"

यह कहते ही मानों ब्राह्मणी एक भयङ्करी मनोव्यथा से कातर हो और मूर्च्छित हो गिर पड़ी।

पतिव्रता की अनुमति पाकर सूर्यदेव उदय हुए। पतिव्रता कुष्ठीपति की मृत्यु हुई। एक क्षण के बाद ही, ब्रह्मा ने उस

मृतक शरीर को अमृत से सींचा। इससे उसका शरीर सर्व-व्याधि से निर्मुक्त हो दिव्य हो गया और वह पतिव्रता के पुण्य की कथा चारों ओर उद्घोषित करने लगा। पति के जीवित होते ही पतिव्रता भी सचेत हुई।

अनन्तर ब्रह्मानन्द विप्रर्षि माण्डव्य ने ऋषियों को अपने पास बुलाया। वे तपोवल सम्पन्न मुनिगण उन परम-योग-युक्तात्मा महर्षि को सूली पर तपःपरायण देख, अत्यन्त सन्तप्त हृदय हुए और उन सब ने मुनि सत्तम से पूँछा —

मुनिगण—हे ब्रह्मन! तुमने ऐसा कौन सा पाप किया था जिसके फल से तुम्हे यह महादुःख और भय अनुभव करना पड़ा?

माण्डव्य—हे ऋषिगण! मै किसे दोष दूँ? इस विषय में और कोई अपराधी नही है। जीव किये हुए निज कर्मों का फल भोगते हैं अपने कर्म के फल ही से मुझे यह लाच्छना भोगनी पडी है।

राजकीय रक्षकों ने देखा कि अन्य चोर तो सूली पर चढ़ाते ही यमलोक सिधार गये, किन्तु उन ऋषिश्रेष्ठ को सूली की नोंक पर चढाने से भी उनका कुछ न विगड़ा! वहुत दिनों तक ऋषि को सूली की नोंक पर जीवित देख, उन लोगों ने यह आश्चर्यमय वृत्तान्त राजा से जा निवेदन किया। उसे सुन राजा ने मंत्रियों के साथ परामर्श किया और मुनि को प्रसन्न करने के लिये वह उनके पास जा कर कहने लगाः—

राजा—प्रभो! मैने अज्ञानता के कारण, मोह में पड आपके प्रति अतीव घृण्य आचरण किया है। अज्ञान कृत

> अपराध के लिये मे क्षमा प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! साधुओं का क्षमा करना ही प्रधान व्रत है। इसीसे मैं आशा करता हूँ कि आप मुझ पर क्षुब्ध न होकर, प्रसन्न ही होंगे।

राजा की ऐसी प्रार्थना सुन मुनिवर माण्डव्य प्रसन्न हुए। राजा भी उनको प्रसन्न देख कर, नीचे उतार कर, उनके शरीर से सूली निकालने का यत्न करने लगे, किन्तु वे कृतकार्य न हुए। तब उन्होंने जितनी सूली बाहिर थी उसको तुड़वा कर फेंक दी। शरीर मे प्रविष्ट सूली के अग्रभाग को धारण किये हुए ही मुनिसत्तम बड़ी एकाग्रता से उग्र तपस्या करने लगे। तप प्रभाव से उन्होंने दुर्लभ पुण्यलोकों को जीत लिया। उनके शरीर में अनी अर्थात् शुलाग्र प्रविष्ट था, इसीसे उनका नाम महर्षि अनीमाण्डव्य पड़ा।

एक बार मुनिसत्तम परमात्मतत्वज्ञ ब्राह्मणवर स्वीय पूर्वकृत कर्मों को स्मरण करने लगे, किन्तु उन्हें ऐसा कोई पापकर्म स्मरण न आया जिसका उन्हें सूली पर चढ़ कर प्रायश्चित करना पड़ता। जब बहुत विचार करने पर भी उन्हें कोई पाप कर्म स्मरण न हुआ, तब वे यथार्थ बात जानने के लिये यमपुर सिधारे। वहाँ यमराज को न्याय आसन पर बैठा देख माण्डव्य ने उनसे पूँछाः—

माण्डव्य—हे धमराज ! बतलाओ तो किस अपराध के लिये मुझे सूली पर चढने का दण्ड दिया गया ?

यह सुन धर्मराज ने अपने व्यवहार-लेखक चित्रगुप्त से कहाः—

बहुत देर तक बही के पन्ने उलटने पर चित्रगुप्त ने स्थिर किया कि इस ब्राह्मण ने बाल्यावस्था में, निर्दय भाव से एक पतङ्ग की पूच्छ में काँटा गड़ा दिया था। उसीके फल से उसे शूली पर चढ़ना पड़ा।

यह सुनते ही अनी माण्डव्य मारे क्रोध के लालताते हो गये और तिरस्कार पूर्वक बोलेः –

माण्डव्य--धर्मराज! मैंने लड़कपन में अज्ञानतः अथवा चापल्य वशतः जो अल्प अपराध किया था, उसके लिये तुमने मुझे इतना भारी दण्ड दिया। यह तुमने बड़ी नीचता का काम किया है। अब मैं सामान्यत जगद्हितेच्छा से और अपने तपःप्रभाव पर निर्भर होकर कहता हूँ कि तुमने शूद्रोपम अन्त्यज जैसा कार्य किया है, इस लिये तुमको शूद्र योनि में जन्म लेना पड़ेगा। साथ ही मैं आज यह व्यवस्था करता हूँ कि जब तक जीव चतुर्दश (चौदह) वर्ष की अवस्था को अतिक्रम न करे, तब तक उसे उसके घोर से घोर पाप कर्म का भी दण्ड न भोगना पड़ेगा।

असीम तपःप्रभाव-युक्त महात्मा अनी माण्डव्य के शाप से धर्मराज को शूद्र योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ा और उस समय उनका नाम विदुर पड़ा। विदुर धर्म सम्बन्धी बातों में एवं अर्थ सम्बन्धी विषयों मे कुशल थे। वे क्रोध-लोभ-विवर्ज्जित थे, शमगुणान्वित परिणामदर्शी और कुरुवंश के हितैषी थे। धर्मराज को यद्यपि शूद्र योनि में जन्म लेना पड़ा, तथापि अनी-माण्डव्य के तपःप्रभाव से सदा के लिये एक बहुत सुन्दर अभ्रान्त व्यवस्था स्थापित हो गयी।

शिक्षा।

इस उपाख्यान में सब से महत्व की शिक्षा यह है कि पतिव्रता स्त्री असीम शक्तिशालिनी होती है। पतिव्रता स्त्री अपने पति को साक्षात् ईश्वर समझ कर सेवा शुश्रूषा करती है। स्त्री के लिये न तो कोई व्रत है, न किसी देवता का आराधन है, उसके लिये उसका पति ही चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, सर्वस्व है। क्या यह कम महत्व की बात है कि पतिव्रता के कहने से सूर्य जहाँ के तहाँ स्थापित हो जाँय और जब तक वह आदेश न दे, तब तक उदित ही न हों। धन्य पतिव्रता!

१५-धुन्धु का उपाख्यान।

[परोपकारी के सब अनुकूल होते है।]

उत्तङ्क नामक एक तपोनिष्ठ महर्षि थे, किसी मरुभूमि के अन्तर्गत एक रमणीय स्थान में उनका आश्रम था। ये महातपा महर्षि विष्णु की आराधना के इच्छुक होकर बहुत वर्षों तक सुदुश्चर तप में नियुक्त रहे। उनकी कठिन तपस्या देख सर्वव्यापी भगवान् विष्णु उन पर प्रसन्न हुए और उन्हें दर्शन दिये। ऋषि प्रवर ने भगवन्मूर्त्ति को देखते ही विनम्र भाव से अनेक प्रकार से उनकी स्तुति की। वे कहने लगे:—

उत्तङ्क—हे देव ! हे महाद्युते ! सुरासुर मानव गण समन्वित यावतीय प्रजापुञ्ज, स्थितिशील और गतिशील समस्त भूतवर्ग और तो और, वेदवक्ता ब्रह्मा, वेद और वेद्य-सब ही को आपही ने रचा है। अन्तरिक्ष आपका मस्तक है, दिवाकर और शशधर आपके दोनों नेत्र हैं, पवन आपका श्वास, अग्नि आपका तेज, दिक् समूह आपके बाहु, महार्णव कुक्षि, पर्वत निचय आपके उरुद्वय, पृथिवी देवी आपके चरण युगल और औषधि समूह आपकी रोमावली है। इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, हुताशन, अमृत, देवगण,

असुरगण और महोरग समूह, विविध स्तुतिद्वारा आप ही के अर्चन, आप ही की उपासना में निरत रहते हैं। हे भुवनपते! समस्त भूतगण में आप व्याप्त हैं। धर्मात्मा एवं योगयुक्तात्मा महर्षिगण आप ही का स्तव किया करते हैं। आपके सन्तोष ही से जगत सन्तुष्ट और आपके क्रोध ही से जगत भयभीत होता है। हे पुरुषोत्तम! आपही समस्त भयों के अपनेता हैं। अतएव क्या देव, क्या मानव, सब भूतों के सुख का विधान करने वाले आप ही हैं।

महर्षि उतङ्क ने जब इस प्रकार हृषीकेश विष्णु की स्तुति की, तब वे उत्तङ्क से बोलेः—

भगवान् विष्णु—हे ब्रह्मन्! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ, तुम वर माँगो।

उत्तङ्क—भगवन्! जगत के सृष्टिकर्त्ता शाश्वत प्रभु दिव्य पुरुष श्री हरि के मुझे दर्शन हो गये इसीसे मैंने सब वर पा लिये।

भगवान् विष्णु—हे द्विजसत्तम! मैं तुम्हारी निष्प्रहता और भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। अतएव हे ब्रह्मन्! तुमको मैं अवश्य ही वर दूँगा।

जब श्री हरि ने वरदान के लिये आग्रह किया तब उत्तङ्क ने हाथ जोड़ कर कहाः—

उत्तङ्क—हे भगवन्! हे पुण्डरीकाक्ष! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं, तो यह वर दीजिये कि मेरी बुद्धि सदैव धर्म सत्य और दम में निरत रहे और हे

जगदीश्वर ! मेरे चित्त की वृत्तियों का प्रवाह सदा आपके प्रति प्रवाहित होता रहै।

भगवान् विष्णु—हे द्विज ! मेरे प्रसाद से तुम्हारे समस्त अभीष्ट सिद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त एक ऐसा योग प्रतिभात होगा जिसमे युक्त होकर तुम देवताओं का और त्रिलोकी का कोई बड़ा भारी कार्य सम्पादन करोगे। धुन्धु नामक एक जन लोगों का नाश करने के अर्थ घोरतर तपश्चर्या मे लगा हुआ है। उसका नाश करने में जो समर्थ होगा, उसे बतलाता हूँ, सुनो ! वृहदश्व नामक वीर्यवान इक्ष्वाकु वंशीय एक राजा होगा, उसके औरस से कुवलाश्व का जन्म होगा। हे विप्रर्षे ! वही पार्थवसत्तम मेरे योगवल को अवलम्बन करके तुम्हारे शासनक्रम से धुन्धुमार होगा।

यह वरदान देकर भगवान् विष्णु अन्तर्द्धान हो गये।

इस घटना के वहुत दिनो वाद इक्ष्वाकु वश में वृहदश्व नामक एक प्रवलतेजा राजा का आविर्भाव हुआ। महाराज वृहदश्व ने वहुत काल तक शासन किया। अनन्तर उनके मन में संसार की ओर से वैराग्य उदय हुआ। वृहदश्व ने अपने गुणशाली पुत्र कुवलाश्व को राजगद्दी पर वैठा कर, वाणप्रस्थ आश्रम में पदार्पण किया।

अनन्तर महात्मा महातेजा द्विजसत्तम उत्तङ्क ने राजर्षि वृहदश्व के वनगमन का संवाद सुना और वे उनके समीप गये तथा ऐसा करने से उन्हें रोका। उत्तङ्क ने कहा:—

उत्तङ्क—राजन् ! लोकरक्षण आपका एकमात्र कर्त्तव्य है। अतएव आप अपने इसी कर्त्तव्य के साधन में व्रती हों। मुझे आशा है कि आपके प्रसाद से मैं निरुद्विग्न हो जाऊँगा। हे नरेन्द्र ! आप महात्मा हैं, आपके द्वारा पृथिवी की रक्षा होने पर पृथिवी उद्वेग शून्या होगी, अतएव आपका वनगमन उचित नहीं है। आपका धर्म है प्रजापालन, न कि अरण्य-गमन। हे राजेन्द्र ! पूर्वकाल में राजर्षियों ने प्रजा पालन कर जैसा धर्मानुष्ठान किया था, वैसा धर्म अब कहीं नहीं दिखलाई पड़ता। राजा को उचित है कि वह सदा अपनी प्रजा की रक्षा करे। अतएव उनकी रक्षा करना ही आपका एकमात्र कर्म है, हे पार्थिव ! यदि आप ऐसा न करेंगे, तो मैं निर्विघ्न तप न कर पाऊँगा। मेरे आश्रम के समीप समतल निर्जल प्रदेश में उज्ज्वालक नामक एक बहु योजन विस्तीर्ण और बहु योजन चौड़ा समुद्र है। हे नरपते ! वहाँ मधुकैटभ का पुत्र, अमित विक्रम शाली बहुवीर्य्य प्रबल पराक्रान्त, रौद्र स्वभाव धुन्धु नामा एक सुदारुण दानवेन्द्र भूमि के भीतर वास करता है। महाराज यदि आपको वाणप्रस्थ ही होना है तो पहले उसे मार कर, तब वनगमन कीजिये। हे पार्थिव ! वह त्रिदशगण और अपरापर लोक समूह के विनाशार्थ उद्यत है, इस समय वह उज्ज्वा-लक सागर के समीप सो रहा है।

इतना कह कर उत्तङ्क चुप हो गये, किन्तु राजा के धुन्धु का वृत्तान्त पूछने पर, वे फिर कहने लगेः—

उत्तङ्क—राजन्! वह दानव सर्वलोक पितामह ब्रह्मा से वरदान पाकर, देवता, दैत्य, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, पन्नग प्रभृति समस्त जीव धारियों से अवध्य है। आप उसके विनाश को उद्यत हों। भगवान् आपका कल्याण करे। उसके नाश करने से आपका बडा नाम होगा।

राजर्षि—(हाथ जोड कर) हे ब्रह्मन्! क्षत्रिय गण तो आपके आज्ञाकारी है, अतएव आपका आगमन व्यर्थ न होगा। हे भगवन्! मेरा कुवलाश्व नामक विख्यात पुत्र असामान्य धृतिमान् और क्षिप्रकारी है। पृथिवी-मण्डल पर, उसके समान वीर्यवान पुरुष कोई नहीं है। परिघ-सदृश-वाहु-शाली, शौर्य-सम्पन्न महातेजा स्वकीय इक्कीस सहस्र पुत्रों सहित कुवलाश्व आपका प्रिय कार्य सर्वतो भाव से सम्पन्न करेगा। इसमें आप सन्देह न करे। हे ब्रह्मन्! अब तो मैं शस्त्रों का त्याग कर चुका, अतएव आप मुझ पर अनुग्रह कीजिये और आज्ञा दे कर मुझे उपकृत कीजिये।

वृहदश्व की ये वाते सुन महर्षि उत्तङ्क ने आशीर्वाद दिया और कहा अच्छा ऐसे ही सही। अनन्तर वृहदश्व ने महर्षि उत्तङ्क का कार्य पूरा करने के अर्थ अपने पुत्र को आदेश दिया और वे एक उत्तम भवन में चले गये। नवाभिषिक्त महाराज कुवलाश्व ने उत्तङ्क के अनुरोध से एव वाणप्रस्थ-धर्मावलम्बी पितृदेव की आज्ञानुसार असुरराज धुन्धु को मारना स्वीकार किया। साथ ही धुन्धु के अत्याचार एव दौरात्म्य का कारण

बतलाने के अर्थ, कुवलाश्व ने उत्तङ्क से प्रार्थना करते हुए कहाः—

कुवलाश्व—हे भगवन्! आज तक मैंने तो कभी उस दैत्य के दुराचारों का संवाद नहीं सुना, अतएव हे प्राज्ञ तपोधन! मैं उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त जानना चाहता हूँ। यह दैत्य किसका पुत्र है—उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त आप मुझे सुनाने की कृपा करें।

यह सुन कर, त्रिकालदर्शी उत्तङ्क ने कहा—'हे महाभाग! योगसिद्ध मुनि गण जिसे लोकों के सृष्टिकर्त्ता, शाश्वत, अव्यय, सर्वलोक महेश्वर, प्रभु, विष्णु कहते हैं, वेही सर्वव्यापी लोककर्त्ता भगवान् अच्युत श्रीहरि प्रलय काल में स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त लोक और यावतीय भूतवर्ग के विनाश होने पर, जब जल के बीच योगावलम्बन-पूर्वक अमित तेजस्वी शेषनाग के विशाल फनमण्डल पर शयन करते हैं तब उनकी नाभि से सूर्य-मय-प्रभान्वित एक दिव्य पद्म निकला। उस प्रभाकर प्रभाप्रतिम सरोरुह से महाबल पराक्रम निज प्रभाव से दुराधर्ष चतुर्वेद स्वरूप चतुर्मूर्त्ति साक्षात् लोक पितामह परमगुरु ब्रह्मा उत्पन्न हुए। हे राजन्! इसके कुछ काल बाद मधुकैटभ नामक अतिशय बलवीर्यशाली दो दानव दिखलाई पड़े। उस समय भी किरीट कौस्तुभधारी पीतपट्ट-वास, शरीरतेज-कान्ति द्वारा जाज्वल्यमान सहस्र सूर्य्य सन्निभ, महाद्युति अद्भुत दर्शन, प्रशान्तमय प्रभु श्रीहरि बहुयोजन विस्तीर्ण, बहुयोजन आयत नागभोगरूप दिव्य शय्या पर शयन कर रहे थे। उनको शयन करते देख, मधु-कैटभ को बड़ा विस्मय हुआ। उनके नाभिपद्म पर अमित ज्योति नलिननिभ लोचन पितामह ब्रह्मा को सन्निश्चित देख,

उनको डराने की वे चेष्टा करने लगे । महायशाः ब्रह्मा उनके बारंबार डराने से कमलनाल को हिलाने लगे । इससे भगवान् जागे और वीर्यवत्तर उन दोनो दानवों को देख उन्होंने कहा :—

भगवान् विष्णु—हे महावल दानवद्वय ! तुम्हारे शुभ आगमन से मै यथेष्ट सन्तुष्ट हुआ हूँ । मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हे वरदान दूँ । तुम अभीष्ट वर माँगो ।

उन दोनों महादर्पान्वित महावली असुरों ने मिल कर, शेषस्थायी भगवान् हृषीकेष के प्रति अवज्ञा प्रकाश कर, हास्य पूर्वक कहाः—

दानवद्वय—हम तुमको वर देना चाहते है तुम हमसे वर माँगो । हे सुरोत्तम ! हम ही तुम्हें तुम्हारा अभीष्ट वर प्रदान करेंगे, अतएव तुम किसी प्रकार का वितर्क न करके अपनी अभिलाषा व्यक्त करो ।

भगवान् विष्णु—हे दानवद्वय ! वरग्रहण करने की मेरी इच्छा है, अत मैं वर माँगता हूँ । तुम दोनों ही वीर्य विशिष्ट हो तुम्हारे समान और पुरुप नही है अतएव लोकहितार्थ मैं तुमसे यह वर माँगता हूँ कि मैं तुम्हें मार सकूँ ।

मधुकैटभ—हे पुरुपोत्तम ! और वात तो दूर रही, पहले हम हँसी में भी कभी असत्य नहीं वोलते, सत्य सम्वन्ध और धर्म विपय में तुम हमको प्रमाण मानो । वल, रूप, सौन्दर्य, शम, दम, नियम, धर्म जप, दान, शील सत्व प्रभृति

विषयों में भी हमारे समान और दूसरा नहीं है। हे केशव! हमारे साथ घोर उत्पात हुआ है अतएव तुम जो कहते हो, उसीका अनुष्ठान करो। क्योंकि काल को अतिक्रम करना अतीव दुःसाध्य है। हे देव! हमारी इच्छानुसार आपको एक काम करना होगा, हे सुरवीरोत्तम विभो! इसी अनावृत आकाश में तुम हमारा वध करो। हे पद्मपलाश-लोचन पद्मनाभ! जिससे हम तुम्हारा पुत्रत्व लाभ करें यह भी आपको करना होगा। हे सुरश्रेष्ठ! यही वर हम माँगते हैं। हे देव! तुम पहले जो बात हमारी अङ्गीकार कर चुके हो, वह व्यर्थ न होनी चाहिये।

भगवान् विष्णु—अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा।

अनन्तर देवप्रवर महायशा मधुसूदन गोविन्द ने विशेष रूप से विचार कर उरुद्वय रूपी आकाश में तीक्ष्ण चक्र द्वारा दोनों दानवों का शिरच्छेदन किया।

उतङ्क ने कहा—'महाराज! धुन्धु उसी मधुकैटभ का पुत्र है। इस महाबल पराक्रान्त वीर्यवत्तर असुर ने एक पैर से खड़े होकर कृश और शिरासमाकीर्ण कलेवर से बड़ी कठिन तपस्या की थी। उसकी तपस्या को देख ब्रह्मा उस पर प्रसन्न हुए और उसे वरदान देने को उद्यत हुए। तब धुन्धु ने अपने उपास्य प्रभु से यह वर माँगा :—

धुन्धु—मैं, देव, दानव, यक्ष पन्नग, गन्धर्व और राक्षसों से अवध्य होऊँ। यही मेरा अभिलाषित वर हो।

ब्रह्मा—ऐसा ही होगा—तुम अब जाओ।

असुरवर ने इस प्रकार वर लाभ करके और ब्रह्माजी के पद स्पर्श कर के वहाँ से गमन किया। हे राजन्! महावल प्रवल पराक्रान्त असुर धुन्धु वर पाकर प्रवल दर्प से पितृवध का स्मरण कर पितृहन्ता विष्णु से रुष्ट होकर, बदला लेने के अभि-प्राय से वैकुण्ठ की ओर गया।

धुन्धु ने युद्ध में देव और गन्धर्वों को जीत कर, इन्द्र को देवताओं समेत पीडा पहुँचाना आरम्भ किया। उसके इस कार्य से भगवान् विष्णु असन्तुष्ट हुए। देवताओं को पीडा पहुँचाने से सन्तुष्ट न होकर, अन्त में वह दुरात्मा उज्ज्वालक नामक वालुकापूर्ण समुद्रतीरवर्त्ती पूर्वोक्त प्रदेश में आकर अपनी शक्त्यानुसार जहाँ तक हो सका हमारे आश्रम ही में और हमारी तपस्या ही में विघ्न डालने लगा है।

महर्षि उत्तङ्क के मुख से दुद्धर्ष धुन्धु की अत्याचार कहानी सुन और उसका परिचय पाकर, ससैन्य और पुत्रों समेत दैत्य के नाश के अर्थ महाराज ने यात्रा की। वह मधुकैटभ का पुत्र भीम पराक्रम धुन्धु अपने स्थान पर सो रहा था, उसी समय सत्यनिष्ठ महीपति कुवलाश्व विप्रर्षि उत्तङ्क सहित वहाँ पहुँचे। उस समय भगवान् विष्णु लोकहितकामना के अभिप्राय से अरिमर्दन महाराज कुवलाश्व के शरीर में तेज द्वारा स्वयं प्रविष्ट हुए। उसी क्षण आकाश वाणी हुई—"आज ये ही श्रीमान् स्वयं अवध्य होकर धुन्धुमार होंगे।" यह सुनते ही देवताओं ने पुष्पों की वर्षा की और महाराज का स्वागत किया। देव दुन्दुभी न वजाने पर भी स्वयं नादित होने लगी। शीतल पवन वहने लगा। धुन्धु और कुवलाश्व का युद्ध देखने के लिये, अन्तरिक्ष में देवता, गन्धर्व, यक्ष एकत्र हुए।

अनन्तर विष्णुतेज से सम्वर्द्धित महाराज कुवलाश्व पुत्रों द्वारा अर्णव के चारों ओर खुदवाने लगे, सात दिन तक खुदाई का काम चलता रहा। अनन्तर धुन्धु दिखलाई पड़ा। उसका वालुकान्तर्निहित घोरतर प्रकाण्ड शरीर, तपो द्वारा सूर्य्य सदृश दीप्यमान पड़ा सो रहा था। उस डरानी मूर्त्ति को देख कुवलाश्व के पुत्र उसके शरीर को बाँध कर अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से उस पर प्रहार करने लगे। महावल धुन्धु इस प्रकार बाँधे जाने पर भी अत्यन्त क्रोध के वश हो उठा और रोष में भर अपने शत्रुओं के सब अस्त्र शस्त्र खाडाले। उस समय उसके मुख से प्रलयानल सदृश हुताशन निकलने लगा। उस हुताशन की लपटों में कुवलाश्व के पुत्र भस्म होने लगे।

महामति महाराज कुवलाश्व ने देखा कि उनके पुत्र धुन्धु के कोपाग्नि में दग्ध हो रहे हैं। अनन्तर दूसरे कुम्भकर्ण की तरह दानवराज सन्निहित होने लगा। तब महाराज के शरीर से बहुत सा जल निकला और उस जल में उस दैत्य का वन्हिमय तेज विलोप हो गया। योगयुक्त राजा कुवलाश्व ने योग समुद्भूत वारि द्वारा दैत्य की वन्हि बुझा दी एवं सब लोकों के अभय सम्पादनार्थ ब्रह्मास्त्र द्वारा उस क्रूर पराक्रम दैत्य को दग्ध कर डाला। धुन्धु मारा गया। तभी से महाराज कुवलाश्व का नाम धुन्धुमार पड़ा।

धुन्धु को मारने से देवगण महाराज पर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—'महाराज वर लो वर लो,' तब अत्यन्त प्रसन्न होकर और हाथ जोड़ कर कुवलाश्व ने कहा,—

कुवलाश्व—मुझे यह वर दीजिये कि मैं ब्राह्मणों को वित्त-दान कर सकूं शत्रुओं द्वारा जय न हो सकूं, विष्णु

के साथ सदा मेरा सख्य अविचलित रहै। प्राणी मात्र के साथ कभी मैं विद्वेष न करूँ, निरन्तर धर्म में रत रहूँ और अन्त मे मुझे अक्षय स्वर्ग-वास मिले।

यह प्रार्थना सुन कर, समागत देवगण, ऋषिगण, और धीमान् उत्तङ्क प्रसन्न हुए और एक स्वर से बोले—"तथास्तु" अर्थात् ऐसा ही हो। अनन्तर महाराज को आशीर्वाद दे, वे सब अपने अपने निवासस्थान को चले गये। महाराज धुन्धुमार कुवलाश्व धर्म्मानुसार राज्य पालन करने लगे।

शिक्षा।

प्रभुता पाकर महाराज कुवलाश्व की तरह सदा ऐसे कार्य्यों मे लगना चाहिये जिससे प्राणी मात्र का हित साधन हो, जो परोपकार-परायण होते हैं, उन पर देवता ऋषि आदि सभी कृपा करते हैं।

१६-सुदर्शन का उपाख्यान।

[आतिथ्य-सत्कार की महिमा]

सुदर्शन नाम के एक धर्मात्मा मुनि सस्त्रीक वास किया करते थे। उन्होंने एक दिन अतिथि-पूजन-सम्बन्धी उपदेश देते हुए अपनी स्त्री से कहा --

सुदर्शन—प्रिये ! अतिथि के आश्रम पर उपस्थित होने पर, उसकी परिचर्या करनी चाहिये। क्योंकि अतिथि स्वयं भगवान् शङ्कर के समान होता है। पृथिवी पर अतिथि पूजन को छोड़, संसार सागर के पार होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतिथि-पूजन बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती। सुनरो हे शुभे ! हे शुभगे ! हे सुव्रते ! तुम घर पर आये हुए अतिथि की कभी अवमानना न करना। अतिथि को साक्षात् शिव समझ कर आत्मोत्सर्ग पूर्वक उनकी पूजा करना।

ऋषिपत्नी—प्रभो ! आपने यह क्या कहा ?

सुदर्शन—हे आर्य्ये ! अतिथि ही स्वयं शिव है। शिव को सर्वस्व समर्पण करना होता है। इसी लिये सकल अतिथि, सर्वथा और सर्वदा पूजनीय है।

सुदर्शन ने इसको उदाहरण द्वारा समझाने के लिये एक पौराणिक आख्यायिका अपनी पत्नी को सुनायी। सुदर्शन ने कहा एक राजा था जो आखेट के लिये वन में गया। वन में बहुत घूमा फिरा किन्तु उसे एक हिरन तक न दीख पड़ा। अन्त में दिन भर घूमने फिरने से वह बहुत थक गया और उसे बड़ी प्यास लगी। यहाँ तक कि उसका कण्ठ सूख गया और प्राणान्त का समय उपस्थित हुआ। राजा को इस प्रकार कष्ट में देख उसके नौकर चाकर कोई पानी के लिये और कोई फलादि के लिये इधर उधर दौड़ धूप करने लगे। अब केवल राजा और उनके मंत्री रह गये। इतने में चारों ओर से आकाश में घनघोर घटाएँ उमड़ आयी, पृथिवी पर घोर अन्धकार छा गया। ठण्डी ठण्डी हवा चलने लगी। कौन कहाँ गया अब इसकी भी किसीको सुध न रही। उधर डाकुओं का एक दल किसी सेठ का माल लूट कर और उसकी सालङ्कृता सेठानी को पकड़ कर लिये जाते हुए दिखलाई पड़ा। सामने ज्यों ही उन्हें राजपुरुष दीख पड़े, त्यों ही वे सेठानी को छोड वहाँ से अपने प्राण ले भागे। वह सेठानी वन में घूमती फिरती दैवयोग से वहाँ पहुँच गयी जहाँ राजा और मंत्री थे।

राजा और मंत्री जिस वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे, उस वृक्ष की एक शाखा पर शुकपक्षी का एक जोड़ा घोंसला बना कर रहता था। जब आँधी पानी निकल गया, तब शुक ने अपनी भार्या से कहा:—

शुक—देखो आज हमारे आश्रित वृक्ष के नीचे तीन अतिथि आये हुए हैं। पानी बरस जाने के कारण ये लोग शीत के मारे विकल हो रहे हैं। इस समय शीत

निवारण के अर्थ इन्हें अग्नि लाकर देना चाहिये। अग्नि-तापने से इनका शीत दूर हो जायगा।

शुक-पत्नी ने शुक के कथन का समर्थन किया। शुक घोंसले से निकल सामने के एक ग्राम में गया और आग ला दी। वे लोग अग्नि पाकर, चारो ओर से सूखा काठ बटोर कर उसे प्रज्वलित करने का यत्न करने लगे। शुक भी स्वयं अपनी चोंच में दबाकर सूखी लकड़ी और तृण लाकर एकत्र करने लगा। अनन्तर अग्नि अच्छे प्रकार से प्रज्वलित हुआ। तब शुक ने अपनी पत्नी से कहाः—

शुक—प्रिये! अब इन अतिथियों के आहारादि का प्रबन्ध करना चाहिये।

शुक-पत्नी—नाथ! आहारादि के संग्रह का इस समय क्या प्रबन्ध हो सकता है?

शुक—अतिथि असत्कृत रहें—यह कभी नहीं होगा। कुछ न होने पर अपने इस शरीर के मांस से उनको तृप्त करूंगा।

यह कह कर, शुक ने झट उस धधकती हुई आग में गिर कर आत्मोत्सर्ग किया। यह देख शुकपत्नी मन ही मन कहने लगी—"अतिथि तो तीन हैं, केवल मेरे पति के शरीर के मांस से उनका पेट कैसे भरेगा? अतः मुझे भी पति के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। ऐसा करने से अतिथियों का कुछ न कुछ आधार अवश्य होगा।" यह सोच कर वह भी जलती हुई आग में गिर पड़ी। पिता माता दोनों को आग में गिरते देख, शुक-शिशुओं ने भी सोचा कि इतने से अतिथियों का

पेट न भरेगा—सो उन्होंने भी अग्नि में कूद कर आत्मोत्सर्ग कर दिया।

इस प्रकार अतिथि-पूजन के निमित्त आत्मोत्सर्ग के फल से वह शुकदम्पति और शुकशिशु, तिर्यगयोनि से मुक्त होगये। सर्वदेवामय शङ्कर के पूजन का जो फल है, वही अतिथि के पूजन का।

इस प्रकार पतिवाक्य सुन कर, पतिव्रता सुदर्शन-पत्नी अवनत मस्तक कर, उसका प्रतिपालन करने को सहमत हुई। उस दिन से सुदर्शन के आश्रम में जो अतिथि आता, उसका आतिथ्य, सुदर्शन-पत्नी बड़े मनोयोग से करती थी और गार्हस्थ धर्म का सदा पालन करती थी। सुदर्शन-पत्नी जीवहित साधन में मूर्त्तिमती दया थी। धीरे धीरे उसकी अतिथि-पूजा की यशःख्याति दिगन्तव्यापिनी हुई। देवलोक, भूलोक, सर्वत्र ही उसकी प्रशंसा हुआ करती थी। एक दिन धर्मराज उसकी अतिथि-भक्ति की परीक्षा लेने के निमित्त छद्मवेश धारण कर सुदर्शन के आश्रम में पहुँचे।

धर्मराज ब्राह्मण का रूप धर सुदर्शन के आश्रम में पहुँच कर, सुदर्शन-पत्नी से पूँछने लगे:—

धर्मराज—भद्रे! तुम्हारा स्वामी सुदर्शन कहाँ है?

सुदर्शन-पत्नी ने उनके इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दे कर, पाद्यार्घ्य द्वारा उनका यथोचित सत्कार किया। अनन्तर आहारादि के विषय में पूँछने पर, ब्राह्मण रूपी धर्मराज ने कहा:—

धर्मराज—आर्य्ये! अन्नादि की आवश्यकता नहीं? क्या तुम अपने शरीर का दान मुझे दे सकती हो?

ब्राह्मण का यह वाक्य सुन कर, पतिव्रता ऋषि-पत्नी, अपने स्वामी के पूर्वकथित वाक्यों को स्मरण कर, और लज्जावनत-वदना हो कर वहाँ से चुपचाप चली गयी। तब फिर उस ब्राह्मण ने उससे पूछा—'तुम्हारी क्या इच्छा है?'

तब धर्ममति सुदर्शन-पत्नी ने कहा,—

सुदर्शन-पत्नी—पति की आज्ञानुसार मैं आपको आत्म-निवेदन कर सकती हूँ।

इस प्रकार उन दोनों में बात चीत हो ही रही थी कि इतने में महर्षि सुदर्शन भी वहाँ जा पहुँचे। आश्रम के द्वार पर पहुँच कर उन्होंने कहा,—

सुदर्शन—हे भद्रे! यहाँ आओ, यहाँ आओ। तुम कहाँ गयीं?

उस समय धर्मराज ने उन ऋषिप्रवर से कहा—

धर्मराज—हे ब्रह्मन्! आज मैं तुम्हारी स्त्री के साथ सङ्गम करने की इच्छा करता हूँ। महर्षि सुदर्शन! इस विषय में क्या कर्त्तव्य है, कहो।

सुदर्शन—(प्रसन्न हो कर) हे द्विजोत्तम! तुम इस स्त्री के साथ समागम करो। मैं यहाँ से चला जाता हूँ।

यह देख वे छद्मवेशी धर्मराज महर्षि सुदर्शन पर बहुत प्रसन्न हुए और अपनी यथार्थ मूर्त्ति के दर्शन करा कर कहने लगे:—

धर्मराज—हे महाभाग ! तुम्हारी इस सुशोभना भार्य्या के प्रति मेरे मन में भी किसी प्रकार का बुरा विचार उत्पन्न नहीं हुआ, तुम दोनों की अतिथि-सत्कार में कितनी श्रद्धा है इसकी केवल परीक्षा लेने के लिये मैं ब्राह्मण का रूप धारण कर आया था। जो तुम केवल अपने इसी व्रत से मृत्यु के जीतने मे समर्थ होगे। आहा ! तुम्हारा तपोवीर्य कितना प्रशस्त है ?

यह कह कर यमराज वहाँ से अन्तर्द्धान हो गये।

आतिथ्य-सत्कार की महिमा के सम्बन्ध में पुराणान्तर में लिखा है कि जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ में बहुत सा दान देने के अनुष्ठान में अभीष्ट-साधनार्थ व्रती हुए, तब एक हंस उनके समीप गया। उस हंस का आधा शरीर सुवर्णमय और आधा शरीर यथावत् था। हंसराज ने महाराज धार्मिकप्रवर युधिष्ठिर के यज्ञ में यथेष्ट दान हो रहा है सुनकर, मन में सोचा कि वहाँ जाने से मेरे भी अभीष्ट की सिद्धि होगी।

यज्ञ में दानव्रत पूरा होने पर महाराज युधिष्ठर के भ्राताओं ने सोचा कि ऐसा दान, ऐसा आतिथ्य-सत्कार, और कहीं नहीं हुआ, यह विचार के उत्पन्न होते ही उनके मन में गर्व उत्पन्न हुआ। उसी समय वह हंस बोलाः—

हंसराज—मेरी दृष्टि में तो यह आपका अनुष्ठान अतीव अकिञ्चित्कर है सुदर्शन नामक महातपाः ऋषि का आतिथ्य-सत्कार अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। एक दिन उनके आश्रम में कई एक क्षुधार्त्त ब्राह्मण पहुँचे। उस समय उनके आश्रम में केवल उतना ही

अन्न था, जितने से वे अपना अपनी भार्य्या एवं पुत्रों की क्षुधा निवृत्त कर सकें, किन्तु उस अन्न को उन क्षुधार्त्त ब्राह्मणों को देकर उन्होंने सपरिवार उपवास किया। उसी आतिथ्य-सत्कार के पवित्र कणास्पर्श से मेरा आधा शरीर स्वर्णमय हो गया। मैं तो समझे हुए था कि महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में महद्दानानुष्ठान के पवित्र अन्नस्पर्श से मेरा सारा शरीर कनकमय हो जायगा किन्तु वह न हुआ।

हंसराज की ये बातें सुन वे सब निरुत्तर हुए।

शिक्षा।

महर्षि सुदर्शन के आतिथ्य सत्कार के सुप्रति पालन से जो महत फल लाभ हुआ, विधि पूर्वक वस्तु त्यागने पर, शुभ व्रतादि करने, यज्ञ दानादि, होम, जपादि सम्पादन करने-यही क्यों-अशेष शास्त्र-वेदादि अध्ययन अधिगमन करने से भी वह कभी प्राप्त नहीं हो सकता। सच्चे मन से केवल अतिथि-पूजा से सर्वदेव परितृप्त होते हैं और अर्थ धर्म, काम मोक्ष की प्राप्ति होती है। सुदर्शन चरित, आतिथ्य सत्कार का आदर्श है।

१७-उपरिचरवसु का उपाख्यान।

[व्यासमाता सत्यवती की उत्पत्ति।]

प्राचीन काल में वसुनाम एक प्रवल पराक्रान्त धर्मपरायण नरपति थे, मृगया में उनका अतिशय अनुराग था। उन्ही अव्याहति-शक्ति वसु ने देवराज इन्द्र के उपदेशानुसार चेदि नाम रमणीय देश पर अपना अधिकार किया। उनके आतङ्क से तात्कालिक दस्युता के अभाव और शिष्टता के सद्भाव से मर्त्य-राज्य, स्वर्ग तुल्य प्रशंस्य हो गया।

एक बार ये ही प्रवल प्रतापी नृपति वसु क्षात्र-धर्म्म के प्रधान साधन अस्त्र शस्त्रों को परित्याग कर और तपोवन में जाकर, उग्र तपश्चर्या में प्रवृत्त हुए। उनकी उग्र तपस्या को देख इन्द्रादि देवता मन ही मन विचारने लगे कि वसु जैसी उग्र तपश्चर्या में एकाग्र भाव से रत हैं, उससे तो उन्हें अवश्य ही इन्द्रत्व पद प्राप्त होगा। यह विचार मन में निश्चित कर, देव-राज इन्द्र और अन्यान्य देवगण उक्त उग्रतपो-निरत राजर्षि के निकट उपस्थित हुए और सान्त्वनार्थक उनके महत्व का ख्यापन कर, उनको तपस्या से निवृत्त करने के अर्थ विनीत वाक्यों से बोले —

देवराज—हे राजेन्द्र! जिस कार्य के करने से इस मही-मण्डल का धर्म सङ्कीर्ण न हो, वही व्यवस्था करना, यथार्थ राजधर्म है। आपके द्वारा धर्म की रक्षा होने से समस्त भूमण्डल के धर्म की रक्षा हो सकती है। हे नरेन्द्र, हमारी इच्छा है, आप सदैव एकान्त समाहित चित्त होकर, इस भूमण्डल की धर्म रक्षा के लिये, सोत्साह सचेष्ट हों। ऐसा होने ही से आप आत्मोत्कर्ष विधायक विश्व-हित-कर वह धर्म उपार्जन करेंगे, जिससे आपको शाश्वत पवित्र स्वर्ग लोक की प्राप्ति होगी। आप मर्त्यलोक के अधीश्वर होने पर भी देवताओं के भी प्रीतिपात्र हैं। मैं देवेन्द्र हो कर भी आपका प्रिय सखा हूँ। हे नरपते! इस विस्तृत अवनी मण्डल में जो देश सौम्य और उत्तम भूमि-गुण विशिष्ट और पशुओं के लिये हितोपयुक्त होने के कारण प्रभूत धन धान्य सम्पन्न, स्वर्ग तुल्य रक्षणीय और पवित्र है अतएव वह रमणीय और मनोज्ञ है, वहाँ जाकर आप रहें। हे चेदीश्वर! यह चेदि देश विलक्षण सम्पत्ति सम्पन्न और अशेष धन रत्न-समन्वित हो रहा है। इसी देश की वसुधा वसु पूर्णा है अतएव महाराज वसु को इसी देश में रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त इस देश के निवासी धर्मरत, सर्वदा सन्तुष्ट और साधु हैं एवं इस प्रकार के सत्यपरायण जो हँसी में भी कभी असत्य भाषण नहीं करते पुत्र कभी अपने पिता से स्वतंत्र नहीं होते—सदा गुरु की

शुश्रूषा में लगे रहते हैं। इस देश में कोई भी मनुष्य कृश वा दुर्बल बैल को न तो हल में जोतता और न उससे बोझा ढुलाता है। हे मानद! इस चेदि राज्य को मर्त्यलोक का स्वर्ग कहें तो भी अत्युक्ति न होगी और जब चेदिराज आपके अधीन हो जायगा, तब आपको अभाव ही किस बात का होगा? हे ज्ञानचक्षुः त्रिलोक में जिस स्थान में जो कुछ वर्त्तमान है, वह आपसे अविदित नही। इस समय आप पर प्रसन्न हो कर देवोप-भोग्य आकाश-गामी दिव्य स्फटिक-मय प्रशस्त विमान हम आप को देते हैं। वह सदा आपके निकट उपस्थित रहैगा। इस मर्त्यलोक में केवल आप ही इस दिव्य विमान में चढ़ कर सशरीर देव-सदृश विमान पर विचरण कर सकेंगे। आपको हम यह अम्लान पङ्कजी वैजयन्ती माला प्रदान करते हैं। यह संग्राम-स्थल में आपकी रक्षा करेगी। इसे धारण करने से आपके शरीर में कोई भी शस्त्र प्रवेश न कर सकेगा। हे नरेश्वर! यह इन्द्रमाला के नाम से विख्यात होने पर भी आपका अप्रतिम महच्चिन्ह होगी।

अन्त में इन्द्र ने प्रीति सूचक दान के उद्देश्य से महाराज वसु को शिष्टपालिनी बाँस की एक छडी दी। देवेन्द्र के साथ इस प्रकार सख्य स्थापन कर, महाराज वसु तपस्या त्याग कर पुनः क्षात्रधर्म का पालन करने लगे। वे विमान पर विचरण किया करते थे इसीसे उपरिचर (ऊपर चलने वाले) वसु उनका नाम पडा।

अनन्तर एक वर्ष व्यतीत होने पर पौरवेन्द्र वसु ने इन्द्र की पूजा के लिये वह बाँस की छडी भूमि में गाड दी। दूसरे दिन गन्ध, माल्य, वसन भूषण आदि से उसे सजा कर, उसे उखाड़ लिया और विधानानुसार उस पर माला लपेट कर उसे अपने पास रख लिया। इस शिष्टपालिनी छडी की पूजा के समय हंसरूपी भगवान् महादेव का भी पूजन महाराज ने किया। देवदेव शुभङ्कर स्वयं हंसरूप धारण कर वसु को प्रसन्न करने के अर्थ प्रकट हुए। विपुल विभव देवराज महेन्द्र, नरेन्द्रश्रेष्ठ वसु के द्वारा अनुष्ठित अर्चनोत्सव को देख कर, बडे प्रसन्न हुए और बोले—"क्या राजा क्या प्रजा, जो कोई मर्त्य-लोक-वासी चेदिपति वसु की तरह हमारा पूजोत्सवादि करेंगे—उनकी और राज्य की विजयश्री अक्षुण्ण बनी रहेगी, उनके अधिकृत देशसमूह विस्तीर्ण होंगे और फले फूलेंगे।"

महात्मा उपरिचरवसु जिस समय इन्द्रप्रदत्त स्फटिकमय दिव्य विमान में बैठ आकाश में विचरण करते थे, उस समय गन्धर्व और अप्सरा उनके सामने आकर, उनका स्तव गान किया करते थे। उपरिचरवसु के अमिततेजा प्रबलप्रतापी, महावीर्यवान् पाँच पुत्र थे। राजेन्द्र उपरिचरवसु ने अपने ज्येष्ठपुत्र विख्यात रथीन्द्र बृहद्रथ को मगध के सिंहासन पर अभिषिक्त किया। प्रत्यग्रह, कुशाम्ब वा मणिवाहन, मावेल्ल और यदु को पृथक पृथक राज्यों के सिंहासनों पर बिठाया। इन राजर्षि के पाँचों पुत्रों ने अपने अपने नामों पर देश और राजधानी प्रतिष्ठित की और अव्याहत प्रभाव से प्रजा का पालन किया। विशेषत. राजर्षिसत्तम वसु भी चेदिराज्य की राजधानी में रह कर, यथाविधि प्रजापालनादि राज-धर्म में नित्य प्रवृत्त रहते थे।

धर्मवीर राजर्षि वसु की राजधानी के समीप शुक्तिमती नाम्नी एक नदी थी और कोलाहल नामक एक सचेतन पर्वत था। वह नदी को देख और कामोपहत होकर उसको रोकने के लिये उद्यत हुआ। नदी शुक्तिमती कामातुर पर्वत द्वारा रुद्ध और आक्रान्त होने पर अत्यन्त उद्विग्न हुई। प्रजारक्षणपर राजर्षि वसु ने शुक्तिमती को विपन्ना देख कर उसके रोध को मिटाने के अर्थ, कोलाहल नामक पर्वत के मस्तक पर पदाघात किया। इससे पर्वत के मस्तक पर एक गढा हो गया और उससे शुक्तिमती निकल कर वहने लगी। किन्तु स्वच्छन्द रूप से पुन प्रवाहित होने पर भी शुक्तिमती यथेष्ट प्रसन्ना न हुई। पर्वत के साथ सङ्गम होने से उसके जो एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई उन्हे उसने मुक्तदाता राजर्षि वसु को अर्पण किया। राजर्षिसत्तम अरिन्दम वसु ने उस नदीपुत्र को अपने सेनापति के पद पर नियुक्त किया और कन्या गिरिका को अपनी पत्नी वना कर शुक्तिमती को प्रसन्न किया।

धीरे धीरे वसु महिषी गिरिका ने यौवन सीमा पर पदार्पण किया। उसके यौवनसुलभ रूप लावण्य को देख चेदिराज उद्दीपित हुए, उसी प्रकार उसके सौजन्य से राजर्षि वसु का हृदय प्रेमरस से आर्द्र हो गया। पतिव्रता गिरिका चेदिपति महाराज की एकान्त मनोरमा महिषी होगयी। एक ओर तो ऋतुस्नाता मनोरमा महिषी के ऋतुदान का काल उपस्थित हुआ और दूसरी ओर राजश्रेष्ठ वसु के पितृगण ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हे आदेश दिया कि "आज तुम वन में जाकर हमारा तर्पण करो।" पितृगण के आदेशानुसार नरपति वसु मृगयार्थक गये तो किन्तु असामान्य-रूप-यौवन-सम्पन्ना मनोरमा महिषी को न भुला सके। सकामचित्त राजा के लिये मृगया केवल

विडम्बना मात्र थी। एक तो वसन्त काल, तिस पर जिस वन में गये वह कुवेरकानन के समान मनोहर, तिस पर अशोक चम्पक, आम्र, अतिभुक्त, पुन्नाग, कर्णिकार, वकुल, दिव्यपाटल, पाटल, नारिकेल, चन्दन, अर्ज्जुन, कोविदार प्रभृति रमणीय पुण्य और सुस्वादु फलमयवृक्ष उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। इसके अतिरिक्त श्रुति-सुख-कर अलिकुल चारों ओर मधुर गुञ्जार कर रहे थे, और श्रवण-मनोहारि कोकिल की कूजन से सब दिशाएँ निनादित हो रहीं थीं। इन सब मनोज-प्रभाव के उद्दीपक साधनों के रहते काम-मोहित-चित्त भला किस प्रकार स्थिर रह सकता है। मृगया-रत राजा, चतुर्दिक निरीक्षण करके, प्रकृति के नयनाभिराम वासन्तिक दृश्य पर मुग्ध हो, न जाने क्या विचार कर वाह्य-ज्ञान-शून्य होगये। उनके मन्मथ शर-विद्ध हृदय में महिषी का स्मरण प्रबल हुआ किन्तु उस वन में उनकी प्रेयसी गिरिका उन्हें किस प्रकार मिलती! अत उसे न पाकर वे मदन शरानल में जलने लगे और अत्यन्त विचलित हुए। अनन्तर उन्होंने इच्छानुसार इधर उधर घूमते फिरते नव पल्लवित पुष्पों से आच्छादित एक रमणीय अशोक वृक्ष देखा। उस वृक्ष में इतना अधिक नवपल्लवों का और कुसुम समूह का विकाश हो रहा था कि उसकी एक भी शाखा नहीं दिखलाई पड़ती थी। किन्तु दूर से वह रक्त शैलखण्ड जैसा प्रतीत होता था।

नरेन्द्रवर उस मनोहर वृक्ष की सुशीतल छाया में बैठ, और वायु के लगने से प्रसन्न होकर, उस प्रियतम महिषी की ऋतु रक्षा की चिन्ता करने लगे। इतने में वहीं उनका रेत स्खलित हुआ। उस रेत को एक पत्ते में रख राजा सोचने लगे कि अब

हम क्या करें जिससे हमारा यह रेत और महिषी का ऋतु व्यर्थ न जाय।

अन्त में सूक्ष्म-धर्मार्थ-तत्वज्ञ राजा उपरिचर ने मंत्र द्वारा शुक्र का संस्कार किया और समीपवर्ती शीघ्रगामी एक श्येन पक्षी से कहाः—

उपरिचरवसु—हे सौम्य! तुम हमारे उपकारार्थक इस शुक्रपत्र को हमारे अन्तःपुर में पहुँचा आओ, जिससे हमारी प्रिय ऋतुस्नाता महिषी गिरिका ऋतुरक्षा कर सके।

यह सुनते ही वह श्येन पक्षी उस शुक्रपत्र को अपनी चोंच में दबा कर, आकाश मार्ग से राजधानी की ओर प्रस्थानित हुआ। उसी समय दूसरे एक श्येन पक्षी की दृष्टि उस पर पड़ी और उसने समझा कि वह पक्षी चोंच में माँस का टुकड़ा लेकर उड़ा जा रहा है, अतः दूसरे ने पहिले पक्षी का पीछा किया। होते करते उन दोनों में आकाश ही में युद्ध हुआ—फल यह हुआ कि पहले पक्षी की चोंच से वह शुक्रपत्र छूट कर यमुना जल में गिर पड़ा।

पहले आद्रिका नामक एक अप्सरा बड़ी गर्विता थी और उसे, उसके गर्व ही के कारण ब्रह्मशाप से मत्स्य योनि प्राप्त हुई थी। वह शापभ्रष्टा उस समय वहीं थी जहाँ वह शुक्र गिरा था। उसने झट उस शुक्र को ग्रास कर लिया। अनन्तर दैवयोग से वह धीमरों द्वारा पकड़ी गयी। धीमरों ने जब उसका उदर चीरा, तब उसके भीतर से एक बालक और एक बालिका निकली। यह देख धीमर बड़े विस्मित हुए और बालक को ले जाकर महाराज वसु की सेवा

में उपस्थित किया । महाराज ने बालक का पालन किया। काल पाकर यह मत्स्यज बालक धर्मनिष्ठ सत्यसन्ध मत्स्य नामक राजा हुआ और वह धीमरों द्वारा पालित कन्या मत्स्यगन्धा, महर्षि पराशर के अनुग्रह से व्यास माता हो कर, पद्मगन्धा के नाम से अभिहिता होने के अनन्तर सत्यवती नाम से प्रसिद्ध हुई । इसके बाद वह महाराज शान्तनु की महिषी हुई। शाप देते समय आद्रिका से यह कह दिया गया था कि तू दो नर शिशु प्रसव करने के अनन्तर मत्स्य योनि से छूट जायगी। इसी निर्देशानुसार वह मत्स्य योनि से छूट कर पुन अप्सरा होगयी।

शिक्षा ।

इस उपाख्यान से यह बात अवगत होती है कि प्राचीन काल में आकाशचारी विमान थे, किन्तु उनके बनाने की विद्या मर्त्यलोक वासियों को नहीं मालूम थी स्वर्गवासी देवगण ही उनके निर्माण की विद्या से परिचित थे। किन्तु जब वे किसी मनुष्य पर बहुत प्रसन्न होते थे, तब प्रसाद स्वरूप किसी किसी को दे दिया करते थे।

१८-कृतबोध और तुलाधार का उपाख्यान।

[पितृभक्ति का फल।]

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिताहि परमंतपः।
पितरि प्रीति मापन्ने प्रीयन्ते सर्व देवता : ॥१॥
लभेत् सर्वज्ञता जातु साध्यतेन तपस्विभिः।
तपसा दुर्लभा तस्मात् भक्तिमान् मातरि भव ॥२॥

क दोपहर का समय है और गरमी का दिन है। गर्म गर्म लू बदन को झुलसाए देती है। आदमी क्या पक्षी तक अपने अपने घोंसले और पत्तों की झुरमुठ में छिप कर प्राण बचाने की इच्छा कर रहे हैं। गृहस्थों के महल्लों में भी सन्नाटा सा छा रहा है। सभी कोई खा पीकर निश्चिन्त और धूप की आड़ तथा ठण्डी जगह देख कर आराम कर रहे हैं। हाँ, नौकर चाकर इधर उधर घूमने और अपने काम काज को निपटाने की चिन्ता में पड़े हुए हैं। ऐसे समय में हम एक सद्गृहस्थ ब्राह्मण के मकान की ओर सङ्केत करते हैं, जो अपने मकान के बाहिरी भाग में दालान के बाद वाली ठण्डी तिद्वारी में नरम बिछौने के ऊपर पड़ा हुआ, स्वर्ग-सुख का आनन्द लूट रहा था। तीसरी अवस्था की घड़ियों को सुख से बिताने वाले इस गृहस्थ की

भाग्यवानी इसीसे प्रकट हो रही थी कि उसका प्यारा युनक पुत्र उसका पैर अपने जङ्घे पर रखे हुए प्रेम से धीरे धीरे दबा रहा है।

प्रेम से पिता की सेवा में लीन उस ब्राह्मण कुमार को इस बात की कुछ भी सुधबुध नहीं है कि उसके द्वार पर एक तपस्वी ब्राह्मण भिक्षा की आशा से खड़ा उसकी ओर देख रहा है। शास्त्र की आज्ञा है कि सन्यासी और ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये मध्यान्ह के समय किसी गृहस्थ के द्वार पर जाय। यही कारण था कि वह तपस्वी ब्राह्मण इस दोपहर के समय की कड़कड़ाती हुई धूप का कुछ भी विचार न करके इस गृहस्थ के द्वार पर आकर खड़ा हुआ था। किन्तु यह देख कर कि घर का स्वामी पिता की सेवा में तल्लीन है और हमारी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता, उसके क्रोध की आग धीरे धीरे सुलगती जाती थी।

पिता की सेवा करते हुए ब्राह्मण कुमार के कान में जब किसी प्रकार का शब्द सुन पड़ा, तब उसने सिर उठा कर बाहर की ओर देखा और तपस्वी ब्राह्मण को द्वार पर खड़ा पाया। तब तपस्वी ब्राह्मण ने पिता की सेवा करने वाले ब्राह्मण-कुमार से कहाः—

तपस्वी—क्या तू अन्धा है? देखता नहीं कि तेरे द्वार पर कैसा अतिथि ब्राह्मण आकर खड़ा हुआ है? अतिथि का सत्कार किस प्रकार करना होता है, क्या यह तुझे किसी ने नहीं सिखाया?

ब्राह्मण-कुमार—(मुसकुरा कर धीरे से) मैं तो अन्धा नहीं हूँ किन्तु तुम अन्धे हो जो इस बात को नहीं देखते

कि मैं अपने पूज्य पिता की सेवा कर रहा हूँ, जो इस घर के स्वामी है और इस समय विश्राम कर रहे है।

तपस्वी ब्राह्मण—(क्रोध से) क्या तू घर का स्वामी नही है और मेरे लौट जाने से क्या तेरी कुछ भी हानि न होगी ?

ब्राह्मण-कुमार—पिता के सामने मै घर का स्वामी नही कहला सकता घर के साथ ही साथ पिता मेरे भी स्वामी हैं, अतः जो कुछ कमा कर मै लाता हूँ वह इन्हीका है। इसके अतिरिक्त जो घर का स्वामी होता है अतिथि सत्कार भी उसीका काम है। न मैं घर का स्वामी हूँ और न तुम मेरे अतिथि हो। मुझे तुम्हारी इन क्रोधभरी लाल लाल आँखों का भी कुछ डर नही है। यदि डर है तो केवल इस बात का कि तुम्हारी बकवाद सुन कर कहीं पिताजी की निद्रा भङ्ग न हो जाय और इन्हे किसी प्रकार का कष्ट न हो।

तपस्वी ब्राह्मण—(विशेष क्रोध से लाल लाल आँखें निकाल कर) अच्छा तो क्या मैं दिखाऊँ कि मेरे जैसे तपस्वी ब्राह्मण का असत्कारित हो लौट जाना या कुपित होना कैसा बुरा होता है? तू मेरे तपोबल को नही जानता, पर अब तू मेरे शाप का दु:ख न सह कर समझ जायगा कि मैं कौन हूँ।

ब्राह्मण-कुमार (मुस्कुरा कर) मैं पहले ही से तुम्हें समझे हुए बैठा हूँ। तभी तो मुझे तुम्हारे शाप का तिल

भर भी भय नहीं है। किन्तु हाँ, अब तुम्हें भी समझ लेना चाहिये कि मैं "बक" (बगला) नहीं हूँ, जिसे तुम जला कर अपने आपको ध्रुव से भी ऊँचे पहुँचे हुए जान रहे हो। यद्यपि तुम्हारे एक साधारण तपोबल को नाश करने वाले अभिमान के प्रभाव की इतिश्री उसी जगह हो चुकी है, तथापि मैं तुम्हें अतिथि की श्रेणी से बाहर न करके फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि ठहरो, पिता के जागने पर मैं तुम्हारा आतिथ्य अवश्य करूँगा।

अब तो उस तपस्वी ब्राह्मण की आँखें खुल गयीं। ब्राह्मण-कुमार की बातों ने उसे आश्चर्य और चिन्ता में डाल दिया और अपने क्रोध घमण्ड तथा तपोबल को भूल कर और सिर नीचा कर कुछ सोचने लगा।

ब्राह्मण-कुमार ने जो कुछ कहा था वह रत्ती रत्ती ठीक था। यह कृतबोध नाम का तपस्वी ब्राह्मण अपने पिता माता का एकमात्र पुत्र था। यह बाल्यावस्था ही से तपोनिष्ठ और धर्म्मानुरागी था। अवस्था के साथ ही साथ उसकी तपोपासना भी बढ़ती ही गयी। यहाँ तक कि अन्त में उसने तपस्या द्वारा सिद्धि लाभ करने का दृढ़ विचार कर लिया। उसके इष्ट मित्रों ने उसे यह समझाया कि 'गृहस्थ धर्म के पालन से सब सिद्धियाँ मिल सकती हैं' बुड्ढे पिता माता ने भी कहा—"बेटा! तुम्हारे लिये हमारी आज्ञा मानना ही परम धर्म है" प्रकार स्त्री भी रोकर बोली "प्राणनाथ! गृहस्थी बड़ी

वस्तु है. यदि आप चाहेंगे तो इसमें रह कर भी आप सब सिद्धियाँ प्राप्त कर सकेंगे । यह सब कुछ हुआ, किन्तु कृतबोध ने एक की भी न मानी । पुत्रवत्सल वृद्ध पिता माता का निहोरा. पतिव्रता स्त्री की प्रार्थना, अनुरागी मित्रों का अनुरोध सब निष्फल हुआ और कृतबोध -सब की उपेक्षा कर, तपस्या करने के लिये वन मे चला गया।

प्रथम यह गङ्गा तट पर पहुँच कर तपस्या करने लगा, परन्तु थोड़े ही दिनों बाद उसने उस स्थान को एकान्त न समझ कर छोड़ दिया और समुद्र के किनारे एक निर्जन स्थान पर पहुँच कर तपस्या करने लगा। बारह वर्ष तक उसने सब प्रकार का कष्ट सहा, किन्तु तपस्या से मुँह न मोडा । यहाँ तक कि उसने अपनी तपस्या का कुछ प्रभाव देख कर, समझ लिया कि अब सिद्धि की प्राप्ति में विशेष विलम्ब नहीं है। उसके आश्रम में हिंस्रक पशुओं ने हिंसा छोड दी, नेवले और साँप एक जगह रह कर खेलने लगे, सिंह और मृग अपने वैर को भूल गये । चूहे और बिल्ली एक साथ प्यार से रहने लगे। कुछ दिनों बाद उसका सम्पूर्ण शरीर वल्मीक की मट्टी से दब गया और चूहों तथा साँपों ने उसमें अपने बिल बना लिये परन्तु कृतबोध को इसकी कुछ भी सुनगुन न जान पडी। वह ध्यान में मग्न रहा।

जब बरसात के मूसलाधार बरसने वाले मेघों ने उस मिट्टी को गला कर बहा दिया, जिसने उसके तमाम बदन को ढाँप रखा था तब उसकी जटाजूट में पक्षियों ने घोंसले बना कर अण्डे दे दिये पर इससे भी उसका मन व्याकुल न हुआ।

अहङ्कार भी शक्ति के साथ रहता है। अस्तु, ज्यों ही कृतबोध की शक्ति बढ़ी त्यों ही अहङ्कार ने भी पर्दे से मुँह निकाल कर अपना दर्शन दिया। तब उसने सोचा कि अब मैं पूरा सिद्ध हो गया और इसलिये वह अभिमान से मत्त हो वन में इधर उधर घूमने लगा।

एक दिन समुद्र में स्नान कर वह अपने आश्रम की ओर जा रहा था कि रास्ते में एक बगले ने ऊपर से उस पर बीट कर दी। इसकी क्रोध भरी दृष्टि से देखने के साथ ही वह जल कर भस्म हो गया। अब कहना ही क्या था? अब तो कृतबोध के अभिमान का कुछ ठिकाना ही न रहा। उसने समझा कि अब "नान्योस्ति सदृश मया" अर्थात् अब मेरे बराबर कोई है ही नहीं। अस्तु वह फिर स्नान करके शुद्ध हुआ और अपने तपोबल का चमत्कार स्वयं देखने और दूसरों को दिखाने के लिये बस्ती की ओर चल दिया। पहले पहल वह जिस गृहस्थ के द्वार पर पहुँचा वह वही ब्राह्मण कुमार था जिसने अपने पिता की सेवा में लगे रहने के कारण कृतबोध का आदर न कर दिखा दिया कि तपस्या के लिये इतने दिनों तक नाना प्रकार के कष्ट भोग कर भी तुम उस पद को नहीं पहुँचे, जिस पद पर मैं गृहस्थाश्रम में रह कर सहज में पहुँच गया हूँ।

हम ऊपर लिख आये हैं कि ब्राह्मण कुमार की बातें सुन कृतबोध की आँखें खुल गयीं और वह सिर नीचा कर कुछ सोचने लगा।

कुछ ही देर के बाद कृतबोध ने सिर उठा कर उस ब्राह्मण कुमार की ओर देखा और कहा —

कृतबोध—निस्सन्देह मेरे क्रोध में पड़ एक बगला भस्म हो चुका है, जिसे तुमने अपनी अनूठी मुसकान से उडा कर मुझे आश्चर्य में डाल रखा है। वर्षों तप करने पर भी जिस ज्ञान की झलक मुझे दिखाई न दी, वह ज्ञान इस छोटी सी अवस्था में तुम्हे क्यों कर मिल गया? तुमने कैसे जान लिया कि मैं एक बगले को भस्म करके आया हूँ। यद्यपि तुम बालक हो, तथापि अब तो तुम मेरे ज्ञानदाता गुरु हो।

ब्राह्मण-कुमार—अपने इन प्रश्नो के उत्तर पाने के लिये उतावली मत करो और न मुझसे उत्तर पाने की आशा रखो। हाँ यदि तुम काशी क्षेत्र में जाकर तुलाधार नामक एक व्याध से मिलोगे, तो निस्सन्देह तुम्हें इसका भेद विदित हो जायगा, किन्तु आज तुम्हे यहीं आतिथ्य-ग्रहण करने के लिये रहना होगा।

विवश हो कृतबोध एक दिन ब्राह्मण-कुमार के यहाँ रह कर दूसरे दिन काशीक्षेत्र की ओर चल पडा। वहाँ पहुँच कर उसने तुलाधार से भेंट की।

कृतबोध ने अपना अभिप्राय प्रकट किया और तुलाधार ने उससे उत्तर में कहा—

तुलाधार—माता पिता साक्षात् देवता है। तुम उनको दु खी कर तपस्या द्वारा अभीष्ट लाभ करने की इच्छा रखते हो। पर उनकी प्रसन्नता के बिना

धर्म लाभ नहीं हो सकता। अतएव तुम घर लौट कर उनकी सेवा करो। ऐसा करने ही से तुम सर्वज्ञता और मुक्ति के अधिकारी होगे। वह जो बक तुम्हारे शरीर पर मलमूत्र डाल गया है वह असल में बक न था। तुम्हारे पूर्वकृत पुण्यों ही ने बक रूप धारण किया था। वह तुम्हारी दृष्टि से दग्ध नहीं हुआ है. दृष्टि तो केवल निमित्त है। बक रूपी तुम्हारा पुण्य तुम्हारे पिता की "आह" से जल कर भस्म हुआ है। जब तुम्हारा पुण्य भस्म हो गया, तब अहङ्कार ने शरीर में प्रवेश किया। जो कुछ पुण्य शेष रहा उसीके बल, तुम्हें धर्मावतार ब्राह्मण-कुमार के दर्शन हुए। अब घर लौट जाओ और माता पिता की आज्ञा पालन कर सफल मनोरथ हो।

मैं घृणित व्याधवृत्ति का अवलम्बन कर केवल माता पिता की सेवा करता हूँ इसीसे मैं निष्कामावस्था में पूर्णकाम हो गया हूँ।

व्याध के वचनों से कृतबोध सचमुच कृतबोध हो गया। उसका अज्ञान और हठ दूर हुआ। घर में आकर माता पिता की सेवा करने लगा जिससे अन्त में उसकी मनोकामना पूरी हुई।[1]

शिक्षा।

इस उपाख्यान से मुख्य शिक्षा यह मिलती है कि पिता माता की सेवा से बढ़ कर बालकों के अथवा युवकों के लिये

[1] देवी भुदर्शन।

उपयोगी और सद्य फलदाता कर्म दूसरा नहीं है। जो माता पिता को मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट पहुँचाते है, वे कभी सुखी नही रहते और न उनका कोई मनोरथ सफल होता है। पर जो अपने आचरण से अपने माता पिता को प्रसन्न रखते, उनकी तन मन से सेवा शुश्रूषा करते है, उनकी सारी अभिलाषाएं घर बैठे ही सफल होती है।

दूसरी शिक्षा इस उपाख्यान से यह मिलती है कि मनुष्य को मनमाना कोई काम नही करना चाहिये। जो लोग शास्त्र की विधि के विरुद्ध कोई काम करते हैं, उनका वह काम भी पूरा नही होता और उनका सारा परिश्रम व्यर्थ होता है। शास्त्र की आज्ञा है कि द्विजातियों को क्रम क्रम से आश्रम वदलना चाहिये। प्रथम ब्रह्मचर्य, फिर गृहस्थ, फिर वाणप्रस्थ और तदनन्तर संन्यासाश्रम ग्रहण करे। किन्तु वहुत से लोग वहुत थोडी अवस्था में माता पिता को मार्मिक वेदना पहुँचा, अपनी सहधर्मिणी को अनाथा और विलाप करती छोड एवं मित्रों के सत्परामर्श पर पदाघात कर, चोटी कटा कर संन्यासी वन जाते हैं। ऐसे लोग सरासर अन्याय करते हैं और शास्त्र की मर्यादा को भङ्ग करते है। ऐसे कच्ची वुद्धि के युवक न तो घर के रहते है और न घाट के। या तो वे अविद्या जनित अज्ञान के कारण किसी के कुसङ्ग में पड़ कर, अपने चरित्र को कलङ्कित कर लेते हैं अथवा किसी अन्य मतावलम्वी के फेर में पड अपने धर्म को गँवा वैठते हैं। इसलिये ऐसा करना सर्वथा अनुचित और शास्त्र विरुद्ध है। मनुष्य जिस आश्रम में हो—उसीके धर्मों का पालन करने से उसे सव प्रकार की सिद्धि मिलती है।

है। अब मैं चाहता हूँ कि हम लोग सब मिलकर इसके द्वारा फिर सूर्यवंश की शाखा आगे बढ़ाने के अर्थ इसे राजपद पर प्रतिष्ठित करें।

इस अलभ्य संवाद को सुन कर महात्मा वशिष्ठ ने महात्मा और्व को धन्यवाद दिया। फिर सब ऋषियों ने मिलकर, सगर से यज्ञ कराया, जिससे राज्य करने की शक्ति का उनमें सञ्चार हो। यज्ञ हो ही रहा था कि क्षत्रिय-कुल-घालक परशुराम जी वहाँ पहुँचे। वे अपनी जान में क्षत्रियों को निर्वंश कर चुके थे, और सगर को देखते ही उन्होंने उसके सीस को काटने के अर्थ अपना फरसा उठाया और बोले:

परशुराम- मेरा यह अखण्ड व्रत है कि ऐश्वर्य मद से मत्त क्षत्रिय रूपी काँटों को जड़ से उखाड़ कर फेंक दूँ। पर यह बड़े ही परिताप, अनुताप एवं दुःख की बात है कि आप लोग मेरा साथ न दे कर मेरे शत्रुओं की वृद्धि करते हैं।

सब ऋषिगण—यह परम ब्राह्मण-भक्त सूर्यवंशीय क्षत्रिय है। इसके द्वारा भविष्यत् में संसार का बड़ा भारी उपकार होने वाला है। अतः यह मारने योग्य नहीं है।

जब इतने पर भी परशुराम जी का सन्तोष न हुआ तब उनको विश्वास दिलाने के लिये सगर की परीक्षा ली गयी। वे अग्निकुण्ड में डाल दिये गये पर वे जले नहीं और ज्यों के त्यों उसमें से निकल आये।

तब कहीं परशुराम जी को विश्वास हुआ और सब ऋषियों के साथ उन्होंने भी सगर का राज्याभिषेक किया।

थोड़े ही दिनों बाद राजा सगर ने अपने शत्रुओं को परास्त कर भगा दिया और पैतृक राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। राज्य करते करते जब बहुत दिन हो गये और उनकी रानी गर्भवती भी न हुई, तब वे उदास हो तप करने हिमालय पर्वत पर चले गये और बहुत दिनों तक तप करते रहे। उनकी तपश्चर्या देख महात्मा भृगु ने प्रसन्न हो कर राजा सगर को आशीर्वाद दिया और कहा—"तेरी इस रानी के गर्भ से तेरे साठ हजार पुत्र होंगे।" कहाँ तो एक ही पुत्र के लाले पडे थे कहाँ वे साठ हज़ार पुत्रों के पिता होंगे—यह जान कर महाराज सगर के आनन्द की सीमा न रही। महाराज प्रसन्न होते हुए अपनी राजधानी में लौट आये। कालक्रम से महात्मा भृगु का आशीर्वाद सफल हुआ और वे साठ सहस्र पुत्रों के जनक हुए।

महाराज सगर ने सारी वसुधा को जीत कर अपने हाथ में किया था अतः वे चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित थे। महाराज ने बडे बडे दुर्दान्त तालजङ्घ यवन, शक, हैहय और बर्बरों को जीत कर अपनी मुट्ठी में कर लिया था। महात्मा वशिष्ठ जी के कहने को मान कर इन दुष्टों को प्राण-दण्ड तो न दिया किन्तु इन सब के रूप को बिगाड कर छोड दिया। किसी का सिर मुडाया, किसी की चोटी कटवाई और किसी के दाढी रखवा दी, किसी को लङ्गोटी मात्र दे कर राज्य से निकाल दिया और किसी को नङ्गा करा कर अपने राज्य की सीमा से निकाल दिया। इस प्रकार महाराज सगर ने इन दुष्टों का शासन किया।

जब राज्य करते सगर को बहुत दिन हो गये तब उन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ किया। यह बात पुराणों के उपाख्यानों को

पढ़ने से स्पष्ट विदित होती है कि शुभ कार्यों में राक्षस उतने विघ्न नहीं डालते, जितना कि अपने पद से विच्युत होने की आशङ्का से देवगण डाला करते हैं। ज्यों ही किसी मनुष्य ने मर्त्यु लोक में कोई सदनुष्ठान आरम्भ किया त्यों ही स्वर्गवासी देवताओं का माथा ठनका और वे उस सत्कर्म को विनष्ट करने का अवसर ढूंढ़ने लगे। देवताओं ने अपनी प्रकृति के अनुसार ठीक ऐसा ही बर्त्ताव सगर के साथ किया और उनके यज्ञ में विघ्न डालने के अभिप्राय से यज्ञीय घोड़े को चुरा लिया। पिता का आदेश पाकर साठों हजार सगर-पुत्र घोड़े को ढूंढ़ने घर से निकले।

सगर पुत्रों ने जब तीनों दिशाओं को छान डाला और कहीं भी घोड़े का पता न चला तब वे उद्विग्न हो पूर्व दिशा की ओर गये। चलते चलते वे महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँचे। देवताओं ने सगर पुत्रों का नष्ट करने के अर्थ यह उपाय रचा था कि उस यज्ञीय घोड़े को ले जाकर महात्मा कपिल के आश्रम में बाँध दिया था। कपिल जी महाराज मौनव्रत धारण कर, तप कर रहे थे। उनके आश्रम में घोड़े को पाकर सगर पुत्र आपे में न रहे। उनकी समझ में इन्द्र की चाल न आयी। उन्होंने महात्मा कपिल को अश्व चुराने वाला समझ लिया और क्रोध में भर बड़ा कोलाहल करने लगे। महर्षि की तपश्चर्या में बाधा पड़ी। उन्होंने सहस्रों वर्षों की बन्द आँखें खोल कर उस कुलाहल का कारण जानना चाहा किन्तु आँखें खोलते ही उनमें से ऐसी तीव्र अग्नि निकली कि सबके सब सगर पुत्र भस्म हो गये।

महाराज सगर के केसिनी नाम्नी एक और रानी थी। वह भी पुत्रवती थी और उसके पुत्र का नाम असमञ्जस था। असमञ्जस प्रजा के लोगों के लिये साक्षात् असमञ्जस था। वह पहले तो लडकों के साथ खेलता था, फिर खेलते खेलते ही उन्हे सरजू में ले जाकर डुबो दिया करता था। उसके ऐसे अनेक उपद्रवों से हैरान हो कर महाराज सगर ने उसे घर से निकाल दिया था, परन्तु असमञ्जस पूर्वजन्म का योग-भ्रष्ट योगी था। वह घर से निकाले जाने पर वन में चला गया और वहाँ तपोबल से, उसने उन सब बालकों को जीवित नदी से निकाला। उसकी यह करतूत देख सब पुरवासी विस्मित हुए और उस पर प्रसन्न हुए। साथ ही उसकी करतूतों को भूल गये।

असमञ्जस के अंशुमान नामक एक पुत्र था। उसको सगर ने युवराज बनाया था और वही राज्य का सारा काम काज किया करता था। जब सगर ने देखा कि न तो यज्ञ का घोडा आया और न साठ हज़ार पुत्रों का पता चला, तब उन्होंने खोज कर घोडे को लाने के लिये अशुमान को भेजा। अशुमान ढूढता ढाढता कपिल के आश्रम में पहुॅचा और महर्षि की स्तुति की। महात्मा कपिल उसकी स्तुति सुन उस पर प्रसन्न हुए और उसे यज्ञीय घोडा सौंप कहने लगे —

कपिल देव—इस घोडे को ले जाकर अपने पितामह का अधूरा यज्ञ पूरा कराओ। यदि तुम अपने चचों की सद्गति चाहते हो तो इस धराधाम पर पवित्र सलिला जान्हवी को लाने का यत्न करो।

पढने से स्पष्ट विदित होती है कि शुभ कार्यों मे राक्षस उतने विघ्न नहीं डालते, जितना कि अपने पद से विच्युत होने की आशङ्का से देवगण डाला करते है। ज्यो ही किसी मनुष्य ने मत्यु लोक मे कोई सदनुष्ठान आरम्भ किया त्यो ही स्वर्गवासी देवताओं का माथा ठनका और वे उस सत्कर्म को विनष्ट करने का अवसर ढूढने लगे। देवताओं ने अपनी प्रकृति के अनुसार ठीक ऐसा ही वर्त्ताव सगर के साथ किया और उनके यज्ञ में विघ्न डालने के अभिप्राय से यज्ञीय घोडे को चुरा लिया। पिता का आदेश पाकर साठों हजार सगर-पुत्र घोडे को ढूढने घर से निकले।

सगर पुत्रों ने जब तीनों दिशाओ को छान डाला और कही भी घोडे का पता न चला, तब वे उद्विग्न हो पूर्व दिशा की ओर गये। चलते चलते वे महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँचे। देवताओं ने सगर पुत्रों को नष्ट करने के अर्थ यह उपाय रचा था कि उस यज्ञीय घोडे को ले जाकर महात्मा कपिल के आश्रम में बाँध दिया था। कपिल जी महाराज मौनव्रत धारण कर, तप कर रहे थे। उनके आश्रम में घोडे को पाकर सगर-पुत्र आपे में न रहे। उनकी समझ में इन्द्र की चाल न आयी। उन्होंने महात्मा कपिल को अश्व चुराने वाला समझ लिया और क्रोध में भर बडा कोलाहल करने लगे। महर्षि की तपश्चर्या में बाधा पडी। उन्होंने सहस्रों वर्षों की बन्द आँखें खोल कर उस हुल्लड का कारण जानना चाहा, किन्तु आँखें खोलते ही उनमें से ऐसी तीव्र अग्नि निकली कि सबके सब सगर-पुत्र भस्म हो गये।

महाराज सगर के केसिनी नाम्नी एक और रानी थी। वह भी पुत्रवती थी और उसके पुत्र का नाम असमञ्जस था। असमञ्जस प्रजा के लोगों के लिये साक्षात् असमञ्जस था। वह पहले तो लड़कों के साथ खेलता था, फिर खेलते खेलते ही उन्हे सरजू में ले जाकर डुबो दिया करता था। उसके ऐसे अनेक उपद्रवों से हैरान हो कर महाराज सगर ने उसे घर से निकाल दिया था, परन्तु असमञ्जस पूर्वजन्म का योग-भ्रष्ट योगी था। वह घर से निकाले जाने पर वन में चला गया और वहाँ तपोबल से, उसने उन सब बालकों को जीवित नदी से निकाला। उसकी यह करतूत देख सब पुरवासी विस्मित हुए और उस पर प्रसन्न हुए। साथ ही उसकी करतूतों को भूल गये।

असमञ्जस के अंशुमान नामक एक पुत्र था। उसको सगर ने युवराज बनाया था और वही राज्य का सारा काम काज किया करता था। जब सगर ने देखा कि न तो यज्ञ का घोड़ा आया और न साठ हजार पुत्रों का पता चला, तब उन्होंने खोज कर घोड़े को लाने के लिये अंशुमान को भेजा। अंशुमान ढूढ़ता ढाढ़ता कपिल के आश्रम में पहुँचा और महर्षि की स्तुति की। महात्मा कपिल उसकी स्तुति सुन उस पर प्रसन्न हुए और उसे यज्ञीय घोड़ा सौंप कहने लगे —

कपिल देव—इस घोड़े को ले जाकर अपने पितामह का अधूरा यज्ञ पूरा कराओ। यदि तुम अपने चचों की सद्गति चाहते हो तो इस धराधाम पर पवित्र सलिला जान्हवी को लाने का यत्न करो।

यह सुन अंशुमान ने घोड़ा ले जाकर पितामह को दिया और उनके अधूरे यज्ञ को पूरा कराया ।

अंशुमान को राजगद्दी पर बिठाया और महाराज सगर, महात्मा और्व के बतलाये हुए ज्ञानमार्ग के सहारे परम पद में पहुँचे ।

शिक्षा ।

"जाको राखे साइयाँ, ताहि न मारे कोई" ।

अर्थात् जिसका ईश्वर रखवाला होता है, वह किसी के मारे नहीं मरता । यद्यपि सगर को गर्भ ही में विनष्ट करने के लिये उनकी जननी को विष तक दिया गया, पर राजा सगर का बाल भी बाँका न हुआ । बड़े होने पर उनके प्राण लेने की फिर चेष्टा की गयी और वे जीते जागते धधकते अग्निकुण्ड में छोड़े गये, पर सर्वशक्तिमान भक्तवत्सल भगवान् ने उनकी वहाँ भी रक्षा की । रक्षा ही न की किन्तु सगर के पक्ष में भगवान् की अनुकम्पा से विष भी अमृत हो गया । जो परशुराम उनके घोर शत्रु थे, उन्होंने उनका राज्याभिषेक किया । अत भगवान् के प्रसन्न होने पर विपक्षी अपने पक्ष में हो जाते हैं और जो उपाय नाश करने के लिये विचारे जाते हैं, उन्हींसे अन्त में रक्षा होती है ।

दूसरी शिक्षा इस उपाख्यान से यह मिलती है कि विना जाने बूझे काम करने का फल वैसा ही मिलता है, जैसा साठ हजार सगर-पुत्रों को मिला । विना समझे बूझे ताव में भर उन्होंने निर्दोष कपिल को दोषी समझ लिया । इसका फल भी उन्हें हाथों हाथ मिला । और वे सब के सब भस्म हो गये । पर धन्य अंशुमान जिसने स्तुति द्वारा कपिल को प्रसन्न कर, अपने पितामह का यज्ञ पूरा करवाया ।

२०-भगीरथ और गङ्गा का उपाख्यान

[सतत प्रयत्न करने का फल।]

कहना न होगा कि महाराज अंशुमान ने अपने पितृव्यों के उद्धार के लिये बहुत दिनों तक तप किया। परन्तु वे सफल न हुए। सफल ही नहीं, किन्तु तपस्या करते करते ही उन्होंने शरीर तक छोड़ दिया। उनके बाद उनका पुत्र दिलीप राजा हुआ। उसने भी कपिल के बतलाये उपाय द्वारा अपने पितामहों का उद्धार करना चाहा और घोर तपस्या की किन्तु वह भी कृत-कार्य न हो पाया और उसको भी शरीर त्यागना पड़ा।

दिलीप के बाद लोकविश्रुत भगीरथ राजा हुए। उन्होंने बड़ा उग्र तप किया और जो काम उनके पिता और पितामह भी न कर सके थे, उसे उन्होंने पूरा किया। महर्षि कपिल ने अंशु-मान से कहा था कि—"तुम्हारे पितृव्यों का उद्धार तब होगा जब तुम गङ्गा को यहाँ लाओगे और गङ्गाजल से जब तुम्हारे पितृव्यों की भस्म प्लावित होगी। गङ्गा जी को लाने का उद्योग करते करते अंशुमान और दिलीप ने शरीर त्याग दिया, पर गङ्गा जी भूमण्डल पर अवतीर्ण न हुई। साथ ही अंशुमान के आरम्भ किये हुए अनुष्ठान का अवसान उनके शरीर के साथ ही नहीं हो

गया किन्तु उनके पुत्र पौत्र तक होना रहा जिसका फल यह हुआ कि जिस काम को पितामह ने आरम्भ किया था उसे उनके पौत्र ने पूरा किया ।

भगीरथ की उग्र तपस्या देख गङ्गाजी प्रसन्न हुईं और उनसे वर माँगने को कहा । भगीरथ ने अपना प्रयोजन कहते हुए गङ्गाजी से भूमण्डल पर अवतीर्ण होने की प्रार्थना की । प्रार्थना सुन गङ्गाजी ने कहा :—

गङ्गा—भगीरथ ! मैं दो कारणों से मृत्युलोक में न आऊँगी । प्रथम कारण मेरे न आने का यह है कि मेरे प्रचण्ड वेग को पृथिवी सह न सकेगी और मैं उसे फोड़कर रसातल को चली जाऊँगी । दूसरा कारण यह है कि संसार के समस्त पुरुष और स्त्रियाँ जन्म जन्म के दुष्कृतों को जोड़ बटोर कर, मेरे जल में धोवेंगे । मैं उन पापों को कहाँ तक धोऊँगी ?

भगीरथ—महारानी ! आपके प्रचण्ड वेग को महाराज भूत-भावन शिवजी धारण करेंगे । रही पापों के धोने की बात, सो हे देवि ! आपके उन पापों को वे महात्मा तुम्हारे जल में स्नान कर बँटा लेंगे जो ब्रह्मज्ञानी हैं ।

इस पर गङ्गाजी ने पृथिवी पर जाना अङ्गीकार किया । तब शिवजी को प्रसन्न करने के लिये भगीरथ ने फिर तप किया । उनकी उग्र तपस्या देख आशुतोष पशुपतिनाथ शिवजी प्रसन्न हुए और भगीरथ की प्रार्थनानुसार उन्होंने गङ्गा का वेग सहना स्वीकार किया ।

गङ्गा हरहराती हुई स्वर्ग से नीचे की ओर अवतीर्ण हुईं और ज्यों ही चाहा कि पृथिवी को फोड़ कर पाताल में चली जाऊँ, त्यों ही शिवजी ने उन्हे अपने जटाजूटों में छिपा लिया।

इस घटना को लेकर हमारे मित्र पण्डित किशोरी लाल जी ने गङ्गावतरण नाम की एक भावपूर्ण पद्यमयी रचना की है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है —

कोटि भानुगति खर्व करि धाई गङ्गा।
पिता गेह तजि व्योपवीथि मधि आई गङ्गा॥
ठठक एक छिन गगन मध्य मुसकाई गङ्गा।
चितै शम्भु निज गति की बात सुनाई गङ्गा॥
"हे हे भाम! भवानीपति! मम वेग न जानहु।
क्यों बरबस मम भार सहन को तुम हठ ठानहु॥
सहित तुम्हहि कैलास भेदि पाताल सिधैहों।
निज छोटी भगिनी कों तव मुख कहा दिखैहो॥
या बावरे भगीरथ की मति पै तुम भूले।
मसक होइ नग गहन चले, दैवहि प्रतिकूले॥
अस्तु, होहु तुम सजग", भाषि यों अहमिति बानी।
नभ मण्डल ते वेगहि धाई, चितै भवानी॥
सुनत व्यङ्गमय अहमिति वचन विषय लोचन यों।
तमकि उठे रिस घोर मूर्त्तिधरि कोप पुञ्ज ज्यों॥
चाप पगन कैलास रौद्रवपु करि कर दीन्हें।
पृष्टभाग में जुगुल करन निज शूलहि लीन्हें॥

फट फटाइ निज जटा तिहूँ लोचन रिस बोरे।
ज्वाला-भाल-भीषन आनन ओप अथोरे॥
करि ऊँचे मस्तक गङ्गा दिस नैन तरेरे।
वाकी वेगवती तरलित गति हूँ को हेरे॥
अभिमानिनि के गव खर्व करिये हित ठाढ़े।
मूर्तिमन्त रस रौद्र मनहुँ छिन छिन प्रति बाढ़े॥
विनय सहित ठाढ़े ह्वै राजा चितव सम्भु दिसि।
अति सकात निज हृदय मध्य लखि शङ्कर की रिसि॥
कबहुँ कबहुँ गङ्गा की रिसि हूँ पै दृग फेरत।
पुनि तामस अधि दैवहु की मानस मति हेरत॥
नन्दी हू करि कोप ठडो चितवत शिव पाहीं।
मनहुँ आज वाहू के रिसि का सीमा नाहीं॥
पारबती दे टेस पीठ नन्दी की ठाढ़ी।
चितवति गङ्गा दिसि धरकत छाती अति गाढ़ी॥
मनहुँ वेग धारा में निज गति पुञ्ज मिलावनि।
वायुवेग प्रति छिन पाछे करि उतरति आवनि॥
मुदित नैन सिथिलित सुअङ्गचर वलित वसन तन।
खलित केस अति ललित छटा छिटकति चहुँ प्रति छिन॥
वह धावति आवति मुनि जन मानस हरषावत।
कै वाकी दिसि यह भूगोल गेंद सो धावत॥
कोटि कोटि घननादनि सों करि यह कम्पित।
गिरि शम्भु की जटा मध्य गङ्गा करि झम्पित॥
घूमन लागी जटाजूट घन गहन मध्य वह।
चकित गर्व करि सर्व सकुच तन चसक नव्य यह॥

थर थराय मन में सकाइ सिर नाय सोचते।
विनवत लागी शिवहिं शैल बाला सकोचते॥
इत राजर्षि भगीरथहू विनती अति कीन्ही।
तप तजि कोप शम्भु गङ्गा को धारा दीन्ही॥
दिव्य सुरथ लै चढ़े भगीरथ आगे धाए।
पाछे भागीरथी चली चित चोप चढ़ाए॥ १

शिव जी ने गङ्गा को अपने जटाजूटों में छिपा लिया। तब तो भगीरथ को बड़ी चिन्ता हुई। वे मन ही मन कहने लगे कि यह तो ठीक न हुआ। मेरा सारा परिश्रम तो योंही जाना चाहता है। गङ्गा जी ने कृपा भी की तब भी मेरा काम तो न निकला। इस प्रकार सोच कर भगीरथ ने हाथ जोड़ कर शिव जी की प्रार्थना की और कहा :—

भगीरथ -हे आशुतोष! मेरा काम तो न हुआ। पृथिवी पर आने के लिये गङ्गा जी को इसलिये राज़ी किया था कि वे चल कर मेरे पूर्वपुरुषों का उद्धार करेंगी। सो तो न हुआ, स्वर्ग से चलकर वे आपके जटा-जूटों में रुक गयीं। मेरी जो अभिलाषा थी वह पूरी न हो पायी। हे भूतभावन आप तो भक्तों के अभीष्टों को पूर्ण करने के लिये विख्यात हैं। अतः इस दास की मनोकामना भी पूरी कीजिये।

---

१ जो गङ्गावतरण की पूरी कविता पढ़ा चाहें वे हमारा ' हिन्दी-पद्य-संग्रह" देखें।

इस प्रकार की भगीरथ की विनीत प्रार्थना सुन थोड़े से में प्रसन्न होने वाले शिवजी ने एक जटा को निचोड़ दिया। फिर गङ्गा जी जल का रूप धारण कर महाराज भगीरथ के रथ के पीछे पीछे अनेक देशों को काटती हुई उस स्थान पर पहुँची जहा भगीरथ के पूर्वपुरुषों के शरीरों की भस्म पड़ी थी। गङ्गाजल के स्पर्श मात्र से भगीरथ के साठो हजार पूर्वपुरुष क्षण भर में तर गये।

उसी समय से गङ्गा जी की महिमा का इस मनुष्य-लोक में विस्तार हुआ। श्री गङ्गा जी की महिमा में एक कवि ने कहा है:—

चौपाई।

"जे गङ्गहि सेवहिं धरि नेमा। भाव सहित मन में शुचि प्रेमा।
सहज तरहि सो अचरज नाही। जासु दरस भवफन्द नसाही॥

महाभारत के शान्त पर्व में भीष्मपितामह ने श्री गङ्गाजी की महिमा को बड़े विस्तार के साथ युधिष्ठिर को सुनाया है। सचमुच गङ्गा जी की महिमा अपार है। यदि आज गङ्गा इस पाप पूरित पृथिवी के जीवों के उद्धार के लिये न आती, तो नरक में पापी जीवों की इतनी भीड़ होती कि नरक में तिल रखने को भी ठौर न रहती और यमराज की, नरकों की संख्या बढ़ाते बढ़ाते नाक में दम हो जाती। अस्तु!

गङ्गा जी को पृथिवी पर भगीरथ लाये थे। इसलिये आज भगीरथ जी के कारण गङ्गा 'भागीरथी' कही जाती है। जब तक गङ्गा इस धराधाम पर रहेगी तब तक उनके दर्शन स्पर्श और जलपान से पापी तरते रहेंगे। जब तक गङ्गा में एक बूँद भी जल रहेगा, तबतक पुण्यात्मा भगीरथ के अजर अमर नाम

को भारतवासी बडे आदर के साथ और कृतज्ञता पूर्वक सदा लिया करेंगे।

शिक्षा।

गङ्गा जी के अवतरण के पुनीत उपाख्यान से हमें यह शिक्षा मिलती है कि बडे लोगों के स्वार्थ से साधारण लोगों का बडा उपकार होता है। बडे लोगों का स्वार्थ भी इतरजनों के लिये हितकर होता है। भगीरथ अपने स्वार्थ के वश गङ्गा को लाये थे, उनका उद्देश्य था अपने पुरुषों का उद्धार। उन लोगों ने क्रोध के वशीभूत हो जो एक निरपराध महर्षि की अवज्ञा की थी, उस पाप का प्रायश्चित यही था। भगीरथ तो अपने उद्देश्य में कृतकार्य हुए ही, पर साथ ही उनके कारण आज तक अनेक पापियो का उद्धार हुआ, होता है और होता रहेगा। अत. बडे लोगों का स्वार्थ भी परमार्थ के तुल्य है। धन्य भगीरथ और धन्य भागीरथी जिनके कारण स्वर्ग का मार्ग इस पापपूरित संसार के जीवों के लिये इतना सुगम हो गया।

इस उपाख्यान से यह भी शिक्षा मिलती है कि यदि किसी कार्य को पूरा ही करना है, तो एक वार ही के प्रयत्न में असफलता प्राप्त होने पर उसे छोड कर न बैठ रहना चाहिये। जब तक कार्य पूरा न हो, तब तक उसके लिये सतत प्रयत्न करता रहे। अनेक कार्य ऐसे होते हैं, जो एक जन्म के उद्योग से पूरे नहीं होते, उन्हें पूरे करने के लिये अनेक जन्म चाहिये। उदाहरणार्थ इसी गङ्गावतरण के उपाख्यान को लेलो। गङ्गा के लाने का उद्योग महाराज अंशुमान ने आरम्भ किया किन्तु इस उद्योग में न तो अंशुमान को और न उनके पुत्र दिलीप को सफलता प्राप्त हुई। इसमें कृतकार्य अंशुमान के नाती भगीरथ हुए।

कार्य आरम्भ हुआ था अंशुमान के समय में पूरा किया उनके पौत्र भगीरथ ने। इसी प्रकार अनेक कार्यों को पूरा करने के लिये धैर्य धारण पूर्वक सतत प्रयत्न की आवश्यकता है। प्रथम बार ही के उद्योग में अकृत-कार्य होने पर हतोत्साह हो कर बैठ जाना—कायरता है। यदि तुम किसी कार्य के करने में कृतकार्य न हो, तो उसके पूरा करने का भार अपने पुत्र पौत्रों को दो। यदि उसके लिये सतत प्रयत्न होता रहेगा, तो एक न एक दिन वह कार्य अवश्य ही सफल होगा।
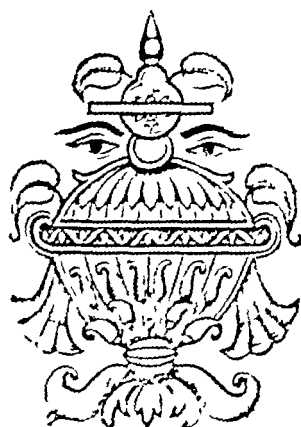
२१-पितृ-आज्ञा-कारी परशुराम का उपाख्यान।

[पितृभक्ति का फल।]

संस्कृत साहित्य से तिल भर भी परिचय रखने वालों में से कदाचित् ही ऐसा कोई हो, जो परशुराम जी के नाम से परिचित न हो। किन्तु ऐसे हिन्दू बालक अनेक निकलेंगे जो उनके चरित से अपरिचित होंगे। अतः अब हम परशुराम जी के जीवन की कतिपय शिक्षाप्रद घटनाओं का यहाँ संक्षेपतः वर्णन करते हैं।

महाराज परशुराम, ब्रह्मर्षि जमदग्नि के पुत्र थे। यद्यपि जमदग्नि ब्राह्मण थे तथापि उन्होंने अपना विवाह राजा प्रसेनजीत की राजकुमारी के साथ किया था। राजकुमारी का नाम रेणुका था। यद्यपि अब यह प्रथा प्रचलित नहीं है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय के ब्राह्मण क्षत्रिय-कुमारियों के साथ निःसङ्कोच भाव से विवाह किया करते थे। अब तो ऐसी

उनको स्मरण रहतो तो न जाने उन पाँचो सगे भाइयों का परस्पर विद्वेष कहाँ तक भीषण रूप धारण करता। परशुराम की बुद्धिमत्ता से यह अनिवार्य विद्वेपाग्नि न भड़कने पाया और जमदग्नि के आश्रम में पूर्ववत् सुख शान्ति विराजने लगी।

इस घटना के कुछ दिनों बाद एक दिन हैहय-वंशोद्भव राजा कार्त्तिवीर्य जिसका दूसरा नाम अर्जुन था, आखेट के लिये वन में घूमता फिरता जमदग्नि के आश्रम प जा निकला। उस समय परशुराम अपने सहोदरों सहित वन में फलफूल और समिधा आदि लाने गये थे। अत आश्रम में रेणुका और जमदग्नि को छोड और कोई नहीं था। प्राचीन समय के लोग विशेष कर ऋषि मुनि, आज कल की तरह जिह्वालोलुप न थे। साथ ही अपने शरीर की रक्षा और हिन्दूधर्म के एक अङ्ग गोसेवा के लिये एक अथवा अधिक गौएं सदा अपने पास रखा करते थे। परंतप जमदग्नि के पास भी एक सुन्दर दुधार गौ थी। वह बड़ी दुधार थी।

राजा को अपने आश्रम में आया देख जमदग्नि ने उसका यथोचित सत्कार किया और दूध आदि पिला कर उन्हें तृप्त किया। अनेक गौओं के रहते और अपार धन रत्न के अधीश्वर होने पर भी कार्त्तिवीर्य की नियत डिग गयी और उसने जमदग्नि की सवत्सा गौ को लेने की इच्छा प्रकट की। वह गौ सपरिवार जमदग्नि का पालन करती थी—उसके बिना

उनके कष्ट की सीमा न रहती--अत उन्होंने उस गौ का देना अस्वीकार किया। पर बालहठ, राजहठ, और तिरिया-हठ, जगत में प्रसिद्ध हैं। अतः अर्जुन, ब्रह्मर्षि जमदग्नि के बार बार मना करने पर भी, बलपूर्वक उनकी गौ को बछड़े सहित खोल कर चल दिया।

आश्रम से राजा के चले जाने के कुछ देर बाद भाइयों समेत परशुराम लौट कर आश्रम में पहुँचे। माता पिता के विषादमय मुखमण्डल को देख उन्होंने उसका कारण पूँछा। परिवार-पालिनी प्यारी गौ का कार्त्तिवीर्य द्वारा अपहरण किये जाने का सॅवाद सुन, तेजस्वी परशुराम घायल सर्प की तरह क्रोध में भर, कार्त्ति-वीर्य को उसके इस अत्याचार और अन्याय का प्रतिफल देने के अर्थ तुरन्त चल दिये। उधर क्रोध में भरे और हाथ में फरसा लिये परशुराम जी को आते देख,कार्त्तिवीर्य ने सेना सजा कर उनका सामना किया। पर पितृ-आज्ञाकारी परशुराम ने सेना सहित अर्जुन को सुरपुर भेज दिया और बछडा समेत गौ ले आये। अर्जुन के लडके वाले, मारे डर के रणक्षेत्र से उस समय भाग गये।

उधर परशुराम जी को बछडा सहित गौ के साथ आते देख उनके पिता जमदग्नि और माता रेणुका बहुत हर्षित हुईं। किन्तु जमदग्नि को जब यह बात विदित हुई कि परशुराम ने एक गाय के पीछे अर्जुन सहित अनेक मनुष्यों को काट डाला है,तब वे अप्रसन्न हुए और कहने लगे.—

जमदग्नि—बेटा! तुमने यह काम अनुचित किया कि एक राजा की हत्या की। ब्राह्मणों में जहाँ अनेक पूज्य गुण है, उनमें एक क्षमा भी है। यही नहीं किन्तु ब्राह्मणों का आभूषण अथवा शोभा क्षमा ही है। क्षमाशील ब्राह्मण को सब लोग पूज्य समझ उसका आदर करते है। क्षमाशील ब्राह्मण पर भगवान् भी प्रसन्न रहते है। तुमने राजा की हत्या कर बडा भारी पाप किया है। इस पाप का प्रायश्चित्त करो और तपस्या कर के, भगवान् से अपने इस अपराध की क्षमा माँगो।

पितृ-आज्ञा कारी परशुराम ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया और तुरन्त वहाँ से चल दिये। एक वर्ष तक वे अनेक तीर्थों में घूमे फिरे। शास्त्र की आज्ञानुसार स्नान, दान कर, उन्होंने भगवान् को प्रसन्न किया और वे आश्रम में लौट आये।

परशुराम जी ने तो क्रोध में भर, सामने युद्ध में अर्जुन को मार एक अनर्थ किया ही था, किन्तु अर्जुन के पुत्रों ने तो उनसे भी बढ़ कर अनथ यह किया कि परशुराम जी की अनुपस्थिति में उन्होंने जमदग्नि के आश्रम पर आक्रमण किया। उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निकुण्ड के समीप बैठ कर, ध्यान कर रहे थे। अर्जुन के उन पापी पुत्रों ने रेणुका के बहुत गिडगिड़ाने पर भी, ध्यान में बैठे, अशस्त्र जमदग्नि का सिर काट डाला ... अपने इस आततायीपन पर प्रसन्न हो, हँसने लगे।

उधर पति की हत्या देख, बेचारी रेणुका छाती पीटती हुई, "हा राम! हा राम! हा बेटा!" कह कर उच्चैस्वर से रोने लगी। दूर से माता का बोल सुन परशुराम जी तुरन्त दौडे आये। आश्रम में उन्होंने जो लीला देखी उससे उनके मन में दुःख और क्रोध --दोनों उपजे। परशुराम जी ने पिता के मृत शरीर की रक्षा का काम अपने भाइयों को सौंपा और हाथ में परसा ले वे उन नीच अर्जुन-कुमारो से बदला लेने के अर्थ आश्रम से निकले।

क्रोध में भरे विषधर की तरह फुंफुकार छोड़ते, परशुराम जी अर्जुन की राजधानी माहिष्मती मे पहुंचे। हैहयवंश को निर्मूल करने के अर्थ उन्होंने उन आततायी अर्जुन-कुमारों के सिरो को काट, ढेर लगा दिया। तिस पर भी उनका क्रोध ठण्डा न पडा। अर्जुन-कुमारों और अर्जुन के अन्याय एवं अत्याचार युक्त इन आचरणों का उनके मन पर ऐसा बुरा प्रभाव पडा कि वे क्षत्रिय मात्र को अत्याचारी समझ उनके घोर शत्रु बन गये। यहाँ तक कि उन्होंने पृथिवी को क्षत्रिय रहित करने का सकल्प किया। प्राचीन काल के ब्राह्मण जैसे क्षमाशील होते थे वैसे ही उत्तेजित होने पर उनके क्रोध की सीमा नही रहती थी। परशुराम को यह बात स्मरण थी कि माता रेणुका ने पिता जमदग्नि के वियोग में इक्कीस बार अपनी छाती पीटी थी। अत उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों को मार कर समन्तपञ्चक देश में, उनके रक्त से नौ कुण्ड भरे, तब कही उनका क्रोध ठण्डा पडा।

क्रोध के शान्त होने पर परशुराम जी आश्रम में गये। वहाँ पहुँच उन्होंने पिता का कटा सिर धड़ पर रखा और पिता को पुनः जीवित करने के अर्थ अनुष्ठान करने लगे। अनुष्ठान पूरा हुआ, परशुराम ने सरस्वती में यज्ञान्त स्नान किये। जमदग्नि जी उठे और परशुराम से पूजे जाकर ऋषि-मण्डल में जा विराजे। अब उनकी गणना सप्तर्षियों में की जाती है।

पुराणों के मतानुसार परशुराम जी अब भी शान्तचित्त से महेन्द्र पर्वत पर निवास करते हैं। आगे के मन्वन्तर में उनके द्वारा वेद का प्रचार होगा।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध सात पहाड़ों में से महेन्द्र पर्वत भी एक है। यह पर्वतमाला उड़ीसा से गोंडवाना तक फैली हुई है। दूसरी ओर उत्तरी सरकार तक उसकी सीमा है। गञ्जाम के समीपवाली पर्वत श्रेणी को वहाँ वाले आज भी महेन्द्र पर्वत कहा करते हैं। यही पिता के परमभक्त, उनकी आज्ञा को वेदवाक्यवत् मानने वाले, महातेजस्वी एवं पराक्रमी परशु-राम का निवास-निकेतन है।

शिक्षा।

इस उपाख्यान से यह शिक्षा मिलती है कि जो लोग उपकार का बदला अपकार से देते हैं, उनकी दशा कार्त्तवीर्य जैसी होती है। जमदग्नि ने तो राजा समझ उनका सत्कार किया,

किन्तु उस अकृतज्ञ ने उनकी गौ ही को छीन लिया। विचारा जाय तो अर्जुन का यह कितना बड़ा अन्याय और अत्याचार था कि जिन जमदग्नि ने उनका अतिथि-सत्कार किया, दूध दुह कर पिलाया, इस उपकार के लिये उन्हे धन्यवाद देना तो जहाँ तहाँ रहा, वह उनके जीवन का एक मात्र अवलम्ब उनकी गौ को वछड़ा समेत लेकर चल दिया।

इसमें सन्देह नही कि कार्त्तिवीर्य को उसकी इस करतूत का फल अवश्य चखाना चाहिये था, किन्तु हम जमदग्नि के वाक्यों का अनुमोदन कर इतना अवश्य कहेंगे कि परशुराम ने दण्ड की मात्रा अपराध को देखते हुए अवश्य वढ़ा दी। क्योंकि अत्याचारी को—चाहे वह राजा हो—चाहे प्रजा—अवश्य ही दण्ड मिलना चाहिये, पर साथ ही दण्ड की मात्रा अपराध से वढनी न चाहिये।

———

२२-महात्मा जड़भरत का उपाख्यान।

भगवदोपासना के शास्त्र में तीन मार्ग निर्दिष्ट हैं। प्रथम ज्ञानमार्ग दूसरा कर्म मार्ग और तीसरा भक्तिमार्ग। यदि उपासक इन तीनो मार्गों में से किसी भी एक मार्ग का अनुसरण करे, तो उसका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है। पर अनुसरण यथाविधि और भली भाँति होना चाहिये। तीन मार्गों में ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग बड़े कठिन हैं। इन पर चलने वाला मनुष्य जरा भी चूका कि उसका पतन हुए बिना नहीं रह सकता। जन्म भर ज्ञानोपार्जन किया, अन्त समय जरासी चूक के लिये फिर लौटना, इसी मार्ग का नियम है। इसका उदाहरण जड़भरत का उपाख्यान है।

जड़भरत बड़े ज्ञानी थे। उन्हें अपने कई एक पिछले जन्मों का स्मरण था। साथही वे अपने पूर्व जन्म कृत पाप पुण्यों को भी जानते थे। यही कारण था कि वे इस जन्म में किसी जड़ वस्तु या सांसारिक झञ्झटों में अपना मन नहीं फँसाते थे। सांसारिक कामों में उनका मन ही नहीं लगता था। यह नियम है कि जो काम किसी के दबाव से पड़ कर बिना मन से किया जाता है, वह ठीक ठीक नहीं होता। यही कारण था कि भरत भाइयों के दबाव से खेत की निराई और सिंचाई

के कामों को उठा कर भी ठीक ठीक नहीं कर पाते थे। ठीक ठीक करना तो जहाँ तहाँ, उनसे हरेक काम बिगड़ जाया करता था इसीसे उन्हें लोग जड़ कहने लगे थे। इस संसार में सब नाते स्वार्थ के होते हैं। प्रेम, प्रीति, ममता, मोह, स्नेह, भक्ति, श्रद्धा, प्रायः सबही की उत्पत्ति का कारण स्वार्थ है। स्वार्थ ही से प्रेम अथवा ममता उत्पन्न होती है। इसीसे गोस्वामी, तुलसी दास जी ने कहा है:—

चौपाई

"सुर नर मुनि सब की यह रीती।
स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥"

अर्थात् देवता हों, चाहे मुनि हों, अथवा मनुष्य ही क्यों न हों—यह सबका एकसा नियम अथवा रीति है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर ही वे नाते जोडते हैं। भरत से जब किसी का किसी प्रकार का स्वार्थ ही सिद्ध नही होता, तब घर के हों अथवा बाहिर के—उन पर किसी का अनुराग क्यों होने लगा। यही कारण था कि भरत को निकम्मा समझ कर, घर वाले उनका अनादर करने लगे। अनादर की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि घर में जो सडा घुना नाज होता, उसके आटे में चोकर भूसी मिलाकर रोटी बनायी जाती और वह भरत को भोजन के लिये दी जाती थी—सो भी पेट भर कर नही। भरत को पहनने के लिये जो कपडे दिये जाते थे—वे भी घर भर की उतरन के मैले कुचैले और फटे फुटे होते थे। ठीक ही है, "बूढ़े निकम्मे बैल को बाँध कर, कौन भुस खिला सकता है।" इसीसे भरत घर में न रह कर इधर उधर घूमा फिरा करते थे। स्वयं तो वे किसीके आगे हाथ पसारते न थे किन्तु दयावश यों कोई उन्हें कुछ दे देता, तो उसे लेकर खालेते थे। उन्हें अपने मानापमान का न तो कुछ विचार था और न उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता थी। इसीसे वे सदा

निश्चिन्त और प्रसन्न रहते थे। इसीसे वे थोड़े ही दिनों में बहुत मोटे ताज़े हो गये।

उनके काँधे पर जनेऊ को देख भले ही उन्हें तुम ब्राह्मण समझ लो, पर उनके शरीर पर इतना मैल चढ़ा था कि शरीर का चर्म ढप गया था। कितनी ही गर्म्मी की ऋतु, कितनी ही जाड़ों की ऋतु और कितनी हो बरसात की ऋतु आती और चली जातीं —पर उनके स्नान करने की नौबत कभी नहीं आती थी। पशुओं की भाँति वे नङ्ग धड़ङ्ग धूल कीचड़ में लोटा करते थे। कभी कभी जब उनके भाइयों को खेत की रखवाली के लिये कोई मनुष्य न मिलता, तब वे भरत को भोजन देने का लालच दिखला कर, खेत की रखवाली के लिये छोड़ आते थे। पर वे खेत वेत तो रखाते न थे—पक्षी पशु जो आता वह भले ही खेत में चरे—वे भला क्यों किसी को मना करने लगे।

एक दिन की बात है। भाइयों ने भरत को खेत की रखवाली के लिये रात में नियुक्त किया। दैवयोग से उसी रात को एक अपूर्व घटना हुई। शूद्र जाति का सामन्त नामक चोरों का एक राजा था। उसके कोई सन्तान न थी। सन्तानार्थी होकर शूद्रों की प्रथानुसार बलि चढ़ाना चाहिये, सो भी भेड़ बकरे की नहीं-मनुष्य की। पर ऐसा हुआ कि जिस मनुष्य को वह मार कर देवी को बलि देना चाहता था, वह किसी प्रकार निकल कर भाग गया। सामन्त ने उसे ढूँढने के लिये अपने सिपाही दौड़ाये। पर बहुत ढूँढने पर भी सिपाहियों को उसका कुछ भी पता न चला। तब सिपाहियों ने राजा के कोपानल से परित्राण पाने के लिये, अन्य उपाय न देख, सीधे साधे भरत को पकड़ा और हाथ बाँध उन्हें ले गये। बलिदान की प्रथानुसार उन मूर्खों ने जड़ भरत को खूब मलमल कर स्नान कराये, उनके चन्दन लगाया और

उन्हे अच्छे अच्छे वस्त्र पहनाये। फिर उन्हे आभूषणों और पुष्प मालाओं से खूब सजाया। इस प्रकार जब उनका वे लोग शृङ्गार कर चुके तब उनके सामने बड़े स्वादिष्ट भोजन परोसे गये। भरत जब खा पी चुके, तब उन्हे ले जाकर पशु की तरह भद्रकाली के सामने खडा किया।

अनन्तर राजा ने तलवार निकाली और वह उनका सिर काटना ही चाहता था कि इतने मे वह देखता क्या है कि देवी की प्रतिमा अग्नि के समान जल रही है। देखते ही देखते विकट गर्जन तर्जन करती कराल-रूप-धारिणी देवी साक्षात् प्रकट हुईं और शूद्र राजा के हाथ से तलवार छीन उसीका सिर काट डाला। फिर क्या था देवी ने क्रोध मे भर एक क्षण ही में राजा समेत उन सब दुष्टों को खपाखप काट डाला। उन दुष्टो के सिरों से निकले हुए गरमा गरम रक्त को पान करके देवी सन्तुष्ट हुईं। फिर शान्तमूर्त्ति धारण कर वे भरत के पास गयी, और गौ जिस प्रकार स्नेहवश अपने बछडे को चाटती है वैसे ही वे जड भरत को चाटने लगी और उन्हें अभयदान दिया। इस प्रकार भरत की रिहाई हुई।

ऐसी ही विचित्र घटना एक दिन फिर हुई। सिन्धु सौवीर देश का राजा, जिसका नाम रहूगण था, तत्वज्ञान सुनने के लिये पालकी पर सवार होकर, कपिल जी के पास जा रहा था। राजा लोगों के यहाँ वेगार की प्रथा पुराने समय से प्रचलित है। इसी प्रथा के अनुसार रहूगण के सिपाहियों ने इक्षुमती नदी के तट पर हृष्टपुष्ट भरत को विचरते देख पकड़ लिया और उनके कन्धे पर पालकी का डण्डा रखवाया। वे बेचारे चुपचाप पालकी का डण्डा काँधे पर रख आगे बढ़े, किन्तु वे अपने शरीर में और चीटी के भी शरीर में ब्रह्म की

सत्ता समान रूप से देखते थे—क्योंकि वे परम ज्ञानी थे। अतः वे चलते समय सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पैर तले कोई चींटी अथवा अन्य जीव कुचल कर न मरने पावे। अकेले तो वे सदा इस प्रकार चलते ही थे, पर पालकी रख कर इस प्रकार चलने से पालकी बहुत हिलने झुलने लगी, जिससे पालकी में बैठे हुए राजा रहूगण के आनन्द में बाधा पड़ने लगी। कई बार टोंकने पर भी जब पालकी का हिलना बन्द न हुआ तब रहूगण ने क्रोध में भर कर, भरत से कहा—"ओवे मोटे आदमी तुझसे कहते हैं। तू सुनता क्यों नहीं? कितनी बार कहा जा चुका है। तू सीधा क्यों नहीं चलता? क्या तू मुझे मृतक समझता है कि इतनी हाल लगने पर भी मुझे कष्ट नहीं हो सकता और कहने पर भी टेढ़ा मेढ़ा चलता है। यदि न मानेगा तो मैं यम के समान कठोर बन कर अभी तुझे ठीक कर दूंगा।

राजा की यह झिड़की सुन, महात्मा भरत ने राजा को सम्बोधन करके कहा —

भरत—राजन्! आपका कुपित होना व्यर्थ है और आपका कथन भी ठीक नहीं—क्योंकि यदि सचमुच भार नामक कोई पदार्थ होता और शरीर को उसका वहन करना पड़ता और वह मेरे ही शरीर में होता और यदि जाने वाले का गन्तव्य मार्ग भी होता तो आपका कहना ठीक था। जो पण्डित होते हैं, वे चैतन्य को स्थूल नहीं कहते। प्राणियों की समष्टि रूपी देह ही को स्थूल कह सकते हैं। स्थूल, दुर्बल, व्याधि, आधि, क्षुधा, तृषा, भय, कलह इच्छा, जरा, निद्रा, रति और क्रोध, अहंबुद्धि से उत्पन्न

हुआ गर्व और शोक—ये सब देहाभिमान के विषय हैं। मुझे देह का अभिमान नहीं है। इसी लिये इनमें से एक भी मुझमें नहीं है। हे राजन्! मैं ही जीवन्मृत नहीं हूँ भौतिक मात्र ही जीवन्मृत है। अर्थात् जिन वस्तुओं का आदि है उनका अन्त भी है। यद्यपि इस समय मैं आपका सेवक हूँ, तथापि कुछ दिनों पीछे यदि तुम राज्यभ्रष्ट हो जाओ और मैं राजा हो जाऊँ तो यह भाव विपरीत हो जायगा। अतः कौन स्वामी और कौन सेवक है—इसकी कुछ स्थिरता नहीं। यदि यह निश्चय होता भी तो "आदेश" और "कार्य" इन दोनों का उचित व्यवहार हो सकता। केवल नाम के प्रभु और सेवकों के लिये इसकी स्थिरता कुछ भी नहीं है। अस्तु, यदि अपने को प्रभु समझ कर तुम्हें अभिमान हुआ है तो आज्ञा दो मैं क्या करूँ? मैं उन्मत्त और जड़वत् व्यहार तो करता हूँ, किन्तु वास्तव में वैसा नहीं हूँ। मेरी लौ कहीं और ही जगह लगी है। अतएव न तो मुझे आपके "ठीक कर देने" का भय है और न आपके प्रसन्न होने का आनन्द है।

भरत के अहङ्कार रहित एवं शास्त्रसम्मत युक्तियुक्त वचनों को सुन कर, रहूगण झट पालकी से उतर पड़े और 'मैं राजा हूँ'—यह अभिमान छोड़ कर, ब्राह्मण के चरणों में गिर पड़े। फिर बोले —

रहूगण—भगवन्! आप कौन हैं? ऐसा रूप बनाये आप क्यों भ्रमण कर रहे हैं? आप यज्ञोपवीत तो पहने

हुए हैं, पर चाल ढाल से आप ब्राह्मण नहीं जान पडते क्या आप सचमुच ब्राह्मण हैं? या कोई अवधूत हैं? आपके पिता का क्या नाम है? आप कहाँ के रहने वाले हैं? इस स्थान में आप किस निमित्त आये? क्या मेरे मङ्गल के लिये ही तो नहीं आये? मुझे न तो इन्द्र के वज्र का, न त्रिलोचन के त्रिशूल का और न यमराज के दण्ड का उतना भय लगता है जितना मैं ब्राह्मण के अपमान से डरता हूँ। अत आप मेरे प्रश्नों के उत्तर दीजिये। यद्यपि आप अपने विज्ञान रूपी प्रभाव को ढक कर, जड के समान भ्रमण कर रहे हैं तथापि आपकी अनन्त महिमा आपही से प्रकाश पा रही है। क्योंकि आपने जो बातें कही हैं, वे हम लोगों की समझ में नहीं आती। हे ब्रह्मन! साक्षात् नारायण कपिल रूप में प्रकट हुए हैं मैं उन्हीं के पास मुक्ति का उपाय पूछने जा रहा हूँ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आप ही कपिल देव हैं। आप अपने को छिपाने के लिये इस प्रकार वेश बदल कर भ्रमण कर रहे हैं। मूर्ख मनुष्य संसार में फँसे हुए हैं, इसीसे आपको नहीं पहचान पाते और न पहचान ही सकते हैं। प्रभो! मैं जानता हूँ कि कर्म करने से श्रम होता है। इसीसे जान पड़ता है कि बोझ उठाने के कारण आप श्रान्त हो रहे हैं। आपने कहा कि यह शरीर केवल नाम मात्र का प्रपञ्च है। सो यह क्यों कर सम्भव हो सकता है। क्योंकि उस प्रपञ्च का तो कारण वर्त्तमान है। घड़े बिना

जल नही आसकता। प्रथम अग्नि के ताप से अग्नि की स्थली ही गरम होती है, पीछे उसके भीतर का दूध गरम होता है। अन्त में दूध के ताप से भीतर का दूध गरम होता है , फिर दूध के ताप से चावल पक जाते है। इसी प्रकार इन्द्रियादि से युक्त जीवों के लिये उनकी उपाधि के अनुसार ससार समझो। यद्यपि स्वामी सेवक का भाव अनिश्चित है, तथापि जो जब तक राजपद पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक उसे अवश्य ही प्रजा का पालन करना पडता है। इसीसे भाव भिन्न हो जाता है। जो मनुष्य भगवान् का सेवक है, उसके लिये पिष्टपेशण कदापि सम्भव नही। क्योंकि अपने धर्म का प्रतिपालन कर के वह अच्युत की आराधना किया करता है। इसीसे यद्यपि मै जड को दण्ड दे कर विशेष कोई भी आशय सिद्ध न भी कर सकूं, तो भी असावधान को दण्ड देकर राजधर्म का प्रतिपालन कर अवश्य ही पुण्य सञ्चय कर सकूंगा।

रहूगण ने इस प्रकार भरत की वातों के उत्तर देकर, अपनी शङ्काएँ प्रकट की —

रहूगण—हे प्रभो ! आपने जो कहा उसमें मुझे यह सन्देह हुआ है कि मैंने राज के मद में मत्त होकर आप जैसे श्रेष्ठ पुरुषों का अपमान किया है। अतः हे दीन वन्धो ! आप मेरे ऊपर अनुग्रह कर ऐसा करें, जिससे में साधु के अवज्ञा-पातक से उद्धार हो जाऊँ। आप संसार भर के वन्धु हैं अत. आप सव को समदृष्टि से देखते हैं। देह को आत्मा विचार कर

आपको अभिमान नहीं है। परन्तु मेरे समान मनुष्य साक्षात् शूलपाणि के समान सामर्थ्य युक्त होकर बड़ों के अपमान रूपी निज कर्म दोष से शीघ्र ही नष्ट होते है।

भरत—राजन्! मन तीनों गुणों से युक्त होकर दुःख का कारण होता है, परन्तु फिर वही मन उन गुणों से विमुक्त होकर दुःख का कारण होता है। दीपक जब घी से भींजी हुई बत्ती को जलाता है, तब उसकी शिखा काली पड़ जाती है, परन्तु जब घृत शेष हो जाता है, तब उसकी स्वाभाविक शुक्ल दीप्ति प्रकाशित होती है। इसी प्रकार जब मन गुण और कर्म से लिप्त होता है, तभी विविध वृत्तियों का अवलम्बन करता है। नहीं तो आगे फिर अपने स्वरूप ही में वास करता है। सब मिला कर ग्यारह वृत्तियाँ होती है। "यह मेरा है" इस प्रकार भोग का साधन होकर शरीर के अभिमान का विषय होता है। मूर्ख मनुष्य अहङ्कार को बारहवीं वृत्ति मानते हैं। मन माया से जीवात्मा को उत्पन्न करता है उसकी जो वृत्तियाँ अविच्छिन्न धारा से अनन्त काल तक प्रवाहित होती है, वे कभी प्रकाशित और कभी अन्तर्धान हो जाती है। पर ईश्वर सभी अवस्थाओं का साक्षी है। अत वह सब अवस्थाओं ही में उन सब का देखता है। हे राजन्! ईश्वर सर्वव्यापी जगत् का कारण, इन्द्रिय द्वारा अगोचर और ज्योति स्वरूप है। उसका जन्म नहीं है। वह ब्रह्मादि ईश्वरों का भी ईश्वर है, सम्पूर्ण प्राणी ही उसके वासस्थान है। उसमें ऐश्वर्यादि छओ

गुण हैं। सब प्राणियों की स्थिति उसीके आश्रित है। माया उसके अधीन है। वह उस माया से परिपूर्ण प्राणियों में रहता है। जिस प्रकार वायु का प्राण रूप में सब स्थावर जङ्गम प्राणियों पर प्रभुत्व है, वैसे ही परमात्मा भी जीवात्मा के भीतर प्रवेश करके उसका शासन करता है। हे नरेन्द्र! जब तक शरीर ज्ञानोदय द्वारा माया को दूर भगा कर, उसका सङ्ग परित्याग करने में समर्थ नहीं होता, तब तक रिपुओं को जीत कर, वह आत्म-तत्त्व नही जान सकता और तब तक बराबर इस ससार में भ्रमण किया करता है। शोक, मोह, रोग और लोभ आत्मा की उपाधियाँ होकर, मन के साथ रहती हैं। मन ममता को उत्पन्न करता है। अत मनुष्य जब तक इन सबको समस्त सॉसारिक दु.खों की क्षेत्रभूमि नहीं विचारता तब तक इस संसार में घूमा करता है। तुम लोकगुरु भगवान् की चरण सेवा रूपी तलवार से इस शत्रु को जीतो। राजन्! यह शत्रु बडा प्रबल है। उपेक्षा करने से इसका बल और भी अधिक बढ़ेगा। यद्यपि यह क्षणभङ्गुर है, तथापि आत्मा को खर्व करने में सब प्रकार से समर्थ है।

रहूगण भगवन्! मनुष्य जन्म ही सब जन्मों में श्रेष्ठ है। स्वर्ग में जो जन्म होता है—पण्डित कहते हैं कि उस जन्म से और कोई जन्म श्रेष्ठ नही है, परन्तु वह जन्म कर्मशून्य है–उसमें कोई कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि आपके समान जिन महानुभाव मनष्यों का

चित्त श्री भगवान् के गुण-कीर्त्तन द्वारा बना है स्वर्ग में उनके साथ और दूसरे मनुष्यों के समागम की सम्भावना नहीं है। बड़े मनुष्यों के चरणों के रेणु से जिनके पाप नष्ट हो जाते हैं, उनकी विमल भक्ति यदि श्रीभगवान् के चरण कमलों में उत्पन्न हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देखिये! पहले सब कुतर्कों का मूल स्वरूप जो मेरा अज्ञान था, एक मुहूर्त्त ही में आपकी सङ्गति से वह नष्ट होगया। मैं शील-वान महात्मा साधु मनुष्यों को नमस्कार करता हूँ। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न खेलने वाले बालक से आरम्भ कर, युवा और वृद्ध सभी को नमस्कार करता हूँ।

भरत जी महानुभाव थे। मन में इन्द्रियों की ऊँची तरङ्गों के शान्त होने पर, गम्भीरता से जलनिधि को बाँधते थे। इस लिये सिन्धु देश के स्वामी रहूगण के निरादर करने पर भी उन्होंने कुछ भी बुरा न माना और निस्सङ्कोच भाव से उसे आत्मतत्त्व का उपदेश दिया और उसका प्रणाम स्वीकार करके फिर पूर्ववत् इस पृथिवी पर घूमने लगे।

असल में भरत जी अगले जन्म में राजा थे और राजपाट को अपने पुत्रों को सौंप वन में तप करने चले गये। एक दिन उन्होंने सूर्योदय के समय सूर्यप्रकाशक वेद मंत्र से भगवान हिरण्मय पुरुष की स्तुति की। इतने में एक हिरनी प्यास से कातर हो अकेली ही उस नदी के तट पर आकर ज्योंही जल पीने लगी त्योंहीं एक सिंह ने दहाड़ कर प्राणियों का मन दहला दिया। हिरनियाँ वैसे ही बड़ी डरपोंक और चञ्चल होती हैं, तिस पर उस सिंह का दहाड़ना सुन कर, वह बहुत डरी और पानी

भी भरपेट नहीं पी पायी थी कि छलाङ्ग मार नदी के पार चली गई। यह हिरनी गर्भवती थी इस लिये छलाङ्ग मारने में और अति डरने से उसका गर्भ नदी में गिर पडा। इससे वह मर गयी पर उसका बच्चा नदी में बहने लगा। यह देख राजा भरत को दया आयी और उन्होंने उसे नदी से निकाल लिया। फिर उसे आश्रम मे ले गये और बड़े यत्न से उसका लालन पालन करने लगे। धीरे धीरे वे उस मृगशावक के प्रेम में इतने फँसे कि वे अपने नित्य नैमित्तिक सभी कर्म्मों से विरक्त हुए। उनके मन में यह धारणा उत्पन्न हुई कि इस निराश्रित मृगशावक का मुझे छोड और कोई नही है। मेरे ऊपर ही इसका जीवन निर्भर है। ज्ञानी होकर भी वे यह भूल गये कि सब का आश्रयदाता सर्वेश्वर विश्वम्भर है। वही सब का पालन पोषण करता है। बापुरे मनुष्य में क्या सामर्थ है जो वह किसी का पालन पोषण कर सके। उनका मन उस मृगशावक की ओर इतना आकृष्ट हो गया कि सर्वदा वे उसीकी चिन्ता किया करते और सदा उसे अपने पास रखने लगे।

बहुत दिनों तक इसी प्रकार भरत जी उस मृगशावक के प्रेम में फँसे रहे। होते करते उनका अन्तिम समय उपस्थित हुआ। मृगशावक पुत्र की भाँति उनके समीप बैठकर शोक प्रकाशित करने लगा। महर्षि का भी मन सब चिन्ताओं को छोड उसी बच्चे ही की ओर लगा हुआ था। इसलिये उन्होंने उसको देखते हुए शरीर छोड दिया। शास्त्रों की यह आज्ञा है कि मनुष्य की जैसी अन्तकाल में मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है। इसी अलङ्घनीय नियम के अनुसार भरत को अगले जन्म में मृग होना पडा। पर पहले पिछले जन्म में साधना करते करते जो प्रभाव उत्पन्न हुआ था उसीके बल से उन्हे उस जन्म का वृत्तान्त

स्मरण था । इसलिये मृग योनि की प्राप्ति का स्मरण कर वे सदा पछताया करते । जब वे इस योनि से छूटे, तब उन्हें ब्राह्मण की देह प्राप्त हुई । यही भरत का पूर्व जन्म का वृत्तान्त है। इसीसे इस जन्म में भरत किसी सांसारिक पदार्थ की ममता में अपना मन नहीं लगाते थे । सदा भगवान् के ध्यान में मग्न रहते और सब वस्तुओं को तुच्छ समझते थे । वे ऐसा क्यों न करते क्योंकि जो मनुष्य एक बार दूध से जल जाता है वह छाछ भी फूँक फूँक कर पीता है । भरत एक बार पार तक पहुँच कर भी किनारे पर ही गोता खा चुके थे, इसीसे इस जन्म में सदा सावधान रहते थे । बुद्धिमानों का कर्त्तव्य भी यही है ।

शिक्षा ।

(१) राजा भरत बड़े ज्ञानी थे, राजपाट छोड़ वन में कुटी बनाकर तपस्वियों की तरह योगाभ्यास करते थे, किन्तु एक जरासी भूल के कारण उनका सारा किया कराया कर्म नष्ट हुआ । घर छोड़ा, प्यारी स्त्री छोड़ी, प्राणाधिक पुत्रों की ममता छोड़ी, पर अनुराग हुआ तो एक हिरन के बच्चे से, सो भी ऐसा कि जिस काम के लिये वन में गये थे वह भी भूल गये। इस भूल का जो कुछ फल उन्हें भुगतना पड़ा वह भी हम ऊपर दिखला चुके हैं । इसीसे कहना पड़ता है कि यद्यपि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, तथापि यह तलवार की धार की तरह भयङ्कर है ।

(२) जो सब को समान दृष्टि से देखता है सब से प्रीति करता है—वही सच्चा महात्मा है, वही ईश्वर का सच्चा और प्यारा भक्त है । ऐसे महात्मा के साथ भूल कर भी वैर न बाँधे । यदि वैरवश अथवा किसी स्वार्थवश जो ऐसे महात्माओं के प्रति

विरुद्धाचरण करता है, उसकी वही गति होती है जो डॉकुओं के राजा सामन्त की हुई।

(३) बडाई छुटाई न तो उढ़ाव पहनाव पर निर्भर है और न धन जन पर, असल में वड़ा वही है जिसका मन बडा है। भरत मैले कुचैले कपडे पहने अवश्य थे, पर उनका मन बहुत वड़ा था। इसी से राजा रहूगण ने पालकी से उतर कर झट उनकी वन्दना की। अत जो वास्तविक बडा बनना चाहें उन्हें अपने विचारों को परिष्कृत करके, बड़े बनने का यत्न करना चाहिये।

२३—उतङ्क और तक्षक का उपाख्यान।

[गुरु-सेवा का फल।]

एक बार राजन्यकुल तिलक महाराज जनमेजय और पुण्यकर्मा राजा पौष्य, महर्षि आयोद-धौम्य के प्रिय शिष्य वेद के आश्रम में गये और उन्हें अपना उपाध्याय वरण किया। तदनन्तर एक दिन याजन-कार्य कराने को यतिश्रेष्ठ वेद आश्रम त्याग कर, प्रवास में जाने को बाध्य हुए। जाते समय वे अपने शिष्य उतङ्क से कहते गये:—

वेद—बेटा उतङ्क! मैं याजन कर्म कराने के लिये बाहिर जा रहा हूँ, मेरे पीछे घर में जिस किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े, सो ला देना और घर की देखभाल करते रहना।

उतङ्क ने सिर नवा कर परमाराध्य गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य किया। महर्षि वेद चल दिये।

गुरुभक्त विनीत उतङ्क गुरुदेव की आज्ञानुसार, आश्रम में आये हुए अतिथियों का सत्कार, अग्निसेवा, जीवदया प्रभृति काम मन लगाकर करने लगे। जो काम वे कर सकते थे,

उनको करने में वे सदा लगे रहते थे। कभी उनमें किसी प्रकार की त्रुटि न रहने देते। यही क्यों वे तो आश्रम के लता वृक्ष, पशु पक्षी तक की यथाविधि सेवा किया करते थे। वेद की अनुपस्थिति में उतङ्क की सावधानी से किसी को कुछ भी कष्ट न हुआ। जो क्रम महर्षि वेद के सामने था, वही उनकी अनुपस्थिति में गुरुभक्त शिष्य उतङ्क ने रखा।

महर्षि वेद की अनुपस्थिति में एक दिन उनके घर की स्त्रियों ने मिल कर, उतङ्क की परीक्षा लेने को उन्हें बुलाया और कहाः—

स्त्रियाँ—बेटा उतङ्क! तुम्हारी गुरुआनी ऋतुमती हुई है। तुम्हारे उपाध्याय घर पर नहीं हैं, वे यज्ञ कराने गये हुए हैं, बीच में उसे छोड, आ भी नहीं सकते। ऐसे मे अब क्या किया जाय? किस प्रकार तुम्हारी गुरुआनी की ऋतुरक्षा हो? करना ऐसा चाहिये जिससे यह ऋतुवन्ध्या न हो। क्योंकि यह इस पाप से बहुत डरती है और बहुत उदास है। अब तो यह अभाव तुम्हींको मेटना पड़ेगा।

उतङ्क—मैं स्त्रियों के कहने पर यह दुष्कर्म्म नहीं करूँगा, क्योंकि मेरे पूज्यपाद गुरुदेव मुझे ऐसा दुष्कर्म्म करने की आज्ञा नहीं दे गये।

उतङ्क के उत्तर से वह बात गयी आयी हो गयी।

कुछ दिनों बाद महर्षि वेद अपना काम पूरा कर लौट आये और आश्रम का सुप्रबन्ध देख बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर जब उन्होंने उत्तङ्क की परीक्षा का हाल आश्रमवासिनी स्त्रियों के मुख से सुना तब वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उतङ्क से कहने लगे:—

वेद—बेटा उतङ्क! बतलाओ तुम क्या चाहते हो? तुमने धर्म्मानुसार हमारी बड़ी सेवा शुश्रूषा की है, इससे हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम पर प्रसन्न होकर तुम्हें आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारी समस्त अभिलाषाएँ पूरी हों और प्रसन्न मन से तुम्हें आज्ञा देते हैं कि तुम अपने घर जाओ।

उतङ्क—गुरुदेव! आपकी सेवा में रह कर, मैंने जो ज्ञानोपार्ज्जन किया है, वही मेरे पक्ष में एक बड़ा भारी लाभ है। मेरे ऊपर आपके इस अनुग्रह का इतना भारी भार है कि मैं उससे नहीं उबर सकता। पर लोग कहा करते हैं कि जो गुरु पढ़ा कर अपने शिष्य से दक्षिणा नहीं लेता और जो शिष्य पढ़ कर गुरुदेव को दक्षिणा नहीं देता, उन दोनों में से एक अवश्य मरता है और उन दोनों में परस्पर वैर बँध जाता है। अतः आप आज्ञा करें मैं गुरुदक्षिणा का जाकर प्रबन्ध करूँ।

वेद—बेटा उतङ्क! तब तुम कुछ दिनों आश्रम में और ठहरो। पीछे सोच कर बतलाऊँगा।

कुछ दिनों उतङ्क ने अपने परमाराध्य उपाध्याय वेद से कहा:—

उतङ्क—गुरुदेव! बतलाइये मैं आपकी किस प्रकार की दक्षिणा से सेवा कर आपको प्रसन्न करूँ?

महर्षि वेद—बेटा उतङ्क! मैं भी यही विचार रहा हूँ कि तुमसे क्या गुरुदक्षिणा लूँ। क्योंकि मेरे घर में किसी वस्तु का अभाव नहीं है। अच्छा एक काम करो।

तुम यह प्रश्न अपनी गुरुआनी से जाकर करो। वे जो कुछ आज्ञा दें, उसका पालन करो। वे जो कुछ तुम से मँगावें, वही तुम लाकर दो।

उपाध्याय की आज्ञानुसार उतङ्क, गुरुपत्नी के समीप गये और प्रणाम पूर्वक बडी नम्रता के साथ बोले:—

उतङ्क—माता भगवती! आराध्य-देव उपाध्याय महोदय ने मेरे ऊपर प्रसन्न होकर, मुझे घर जाने की आज्ञा दी है। पर मैं गुरु-दक्षिणा देकर, घर जाना चाहता हूँ, अतएव आप जो आज्ञा दें—मैं वही दक्षिणा लाकर आपके चरणों में रख दूँ।

गुरुपत्नी—बेटा उतङ्क! तुम पौष्य राजा के पास जाओ और उनकी रानी के कानों में जो दो कुण्डल है, उन्हें माँग कर लादो। आज से चौथे दिन पुण्यक नामक व्रत का उद्यापन होगा, मैं चाहती हूँ उस दिन मैं उन कुण्डलों को पहिन कर, ब्राह्मणों को भोजन कराऊँ, अतएव तुम यह काम करो। ऐसा करने से तुम्हारा मङ्गल होगा—नही तो तुम्हारा किसी से श्रेय न होगा।

यह सुनते ही उतङ्क कुण्डल लेने को चल दिये।

देवराज इन्द्र ने देखा कि गुरुभक्त, धर्मप्राण उतङ्क जिन कुण्डलों को लेने जा रहा है, वे नागराज तक्षक की परमप्रिय वस्तु हैं, अतएव वे उतङ्क के कार्य में बडी बाधा डालेंगे। नागराज के ऐसा करने पर इस बेचारे ब्राह्मण को बड़ा कष्ट होगा। सम्भव है, इसे अपने प्राण भी गँवाने पड़ें। महर्षि वेद हमारे बडे मित्र हैं। यह उन्हींका प्यारा शिष्य है। अतः इसकी

रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने ऐरावत हाथी को तो बैल बनाया और मनुष्य का रूपधर स्वयँ उस पर चढ़ कर, जिस रास्ते से उतङ्क जा रहा था, उस पर होकर वे जाने लगे। कुछ दूर आगे चल कर, इन्द्र ने उतङ्क से कहा —

इन्द्र—अरे उतङ्क! इस वृषभ का गोबर खालो।

उतङ्क- भला यह क्या कोई खाने की वस्तु है जिसे मैं खालूँ! मैं इसे कभी नहीं खा सकता।

इन्द्र—उतङ्क! इसमें नाहीं करने की आवश्यकता ही नहीं है। मैं जो कह रहा हूँ, सो तुम्हारे भले के लिये। अतः बिना किसी प्रकार के विचार के तुम मेरा कहना मानो। यह काम तुम्हीं अनोखा नहीं कर रहे हो। तुम्हारे गुरुने भी इसका गोबर खाया था।

गुरुदेव ने भी इसका गोबर खाया था—यह सुनते ही गुरु-भक्त उतङ्क को उसके खाने में किसी प्रकार की आपत्ति न रही। उन्होंने झट उसे खा लिया। जलदी में मुखशुद्धि के लिये न तो आचमन किया और न मुख ही धोया। वे आगे ही बढ़ते चले गये।

चलते चलते वे क्षत्रियराज पौष्य के पास पहुँचे। पौष्य को उतङ्क ने आशीर्वाद दिया और बोले:—

उतङ्क—आयुष्मन्! मैं आपसे कुछ माँगने के लिये आया हूँ।

पौष्य—भगवन्! मैं तो आपका दास हूँ कहिये क्या आज्ञा है?

उतङ्क- राजन्यवर! आपकी महिषी के कानों में जो कुण्डल है मैं उन्हींको माँगने के लिये आपके पास आया

हूँ। आप उन दोनों कुण्डलों को देकर, मुझे गुरु-ऋण से उद्धार कीजिये।

पौष्य—भगवन्! आप अन्तःपुर में जाकर मेरी धर्मपत्नी से उन्हे माँगे। वे तुम्हारी मनोभिलाष पूरी करेंगी।

इसके बाद उतङ्क अन्तःपुर में गये, किन्तु वहाँ रानी को न पाकर, वे लौट आये और पौष्य से कहा —

उतङ्क—महाराज! मुझे ऐसा धोखा देना आपके लिये ठीक नही। अन्तःपुर में तो आपकी रानी नहीं मिलीं। यदि वहाँ होती, तो मुझे अवश्य ही दिखलाई पडती।

यह सुन कुछ देर तक पौष्य ने मन ही मन कुछ विचारा, अनन्तर वे कहने लगे —

पौष्य—भगवन्! स्मरण कीजिये। आप अवश्य जूठे मुँह हैं। जूठे मुँह वाला मनुष्य हमारी पतिव्रता रानी को कभी नहीं देख सकता।

कुछ क्षणों तक विचार कर उतङ्क ने कहा:—

उतङ्क—हाँ आते समय मैंने रास्ते में आहार किया था, और यथाविधि आचमनादि नही कर पाया।

पौष्य—भगवन्! आपने विहितशौच में व्यतिक्रम किया है। क्योंकि खडे होकर अथवा चलते हुए आचमनादि करना मना है।

उतङ्क ने कहा—'ठीक है', और हाथ पैर धो और यथाविधि आचमन कर, वे फिर अन्तःपुर में गये। इस बार उन्हें पौष्य महिषी दिखलाई पड़ी।

रानी उतङ्क को देखते ही झट उठ खड़ी हुई और यथाविधि उनको प्रणामादि से सत्कृत कर बोलीं —

रानी—भगवन्! क्या आज्ञा है?

उतङ्क—गुरुदक्षिणा देने के निमित्त मैं आपसे आपके दोनों कुण्डलों की भिक्षा माँगने आया हूँ। कुण्डलों को देकर, मुझे गुरु जी के ऋण से उद्धार करो।

उतङ्क की ऐसी गुरुभक्ति देख पौष्यमहिषी बहुत प्रसन्न हुई और मन ही मन विवेचन करती हुई कहने लगीं—"यह एक सत्पात्र ब्राह्मण है, इसकी बात टालना उचित नहीं।" अनन्तर रानी ने दोनों कुण्डलों को उतङ्क के हाथ में दे कर कहा:—

रानी—भगवन्! ये दोनों कुण्डल नागराज तक्षक की परमप्रिय वस्तु हैं। वे मुझसे सदा इन्हें माँगा करते हैं। अतः बड़ी सावधानी से इन्हें ले जाना, देखना कहीं वे तुम्हें धोखा देकर तुमसे कुण्डल न लेलें। बड़ी सावधानी से इन्हें लेजाना।

उतङ्क—भगवति! इसके लिये तुम मत डरो। मैं इन्हें बड़ी सावधानी से ले जाऊँगा। तक्षक की सामर्थ्य नहीं कि वह इन्हें मुझसे ले ले।

यह कह कर उतङ्क वहाँ से चल दिये और पौष्य के निकट जाकर बोले—'भो आयुष्मन्! मैं बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ, भगवान आपकी वृद्धि करें।' इस पर पौष्य ने कहा.—

पौष्य—भगवन! सत्पात्र सदा नहीं मिलते आप सर्वसद्गुण सम्पन्न हैं और मेरे घर पर आये हैं। अतः कुछ क्षणों के लिये ठहर जाइये मैं यथाविधि आपका सत्कार करना चाहता हूँ।

उतङ्क—मैं ठहरा हुआ हूँ। इस समय जो भोजन तयार हो, झटपट उसे ला दीजिये, क्योंकि मुझे बहुत शीघ्र वहाँ पहुँचना है।

पौष्य ने ऐसा ही किया और उस समय उनके घर में जो भोजन तयार था वह उतङ्क के सामने लाकर परोस दिया। उतङ्क ने ठण्डे और केशयुक्त भोजन को अपवित्र समझ कर कहाः—

उतङ्क—तुमने मुझे अपवित्र अन्न दिया है, तुम अन्धे हो जाओ।

पौष्य—(क्रोध में भर) तुमने अदूष्य अन्न में वृथा दोष लगाया है, अतः तुम निसन्तान होगे।

उतङ्क—अशुद्ध अन्न देकर, फिर शाप देना उचित नहीं, तुम स्वयं देखो यह अन्न पवित्र है कि अपवित्र ?

पौष्य ने ध्यान से जब देखा, तब उसमें बाल गिरा देखा। वह अन्न ठण्डा था, और ऐसी दासी का लाया हुआ था जिसके बाल खुले थे और इसीसे उसमें बाल गिर पड़ा था। अपनी भूल देख कर, राजा बड़े दुःखी हुए और अपने किये पर पछताने लगे। फिर उतङ्क को प्रसन्न करने के लिये उन्होंने कहा—

पौष्य—भगवन् ! अनजाने मुझसे यह अपराध बन पड़ा है, किन्तु यह मैं जनता हूँ कि साधु लोग स्वभाव ही से क्षमाशील होते हैं, इसीसे क्षमा माँग कर प्रार्थना करता हूँ कि आप अपना शाप लौटा लें, जिससे मैं अन्धा न होऊँ।

उतङ्क—मेरा शाप अमोघ है, वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता। तब हाँ यह होगा कि आप अन्धे होकर बहुत शीघ्र फिर दीठ वाले हो जायँगे। अब आप अपना शाप लौटा लें।

पौष्य—दिये हुए शाप को लौटाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है अब तक मेरा क्रोध शान्त नहीं हुआ। ब्राह्मण का हृदय नवनीत जैसा होता है और थोड़ी ही देर में पिघल जाता है और उनके वाक्य पैनी धार वाले छुरे के समान होते हैं, जो छूते ही काट कर देते हैं। क्षत्रियों में इन दोनों के विपरीत बातें होती हैं। वाक्य तो उनके नवनीत के समान होते हैं और हृदय उनका तीखी धार वाले छुरे के समान होता है। अतएव मैं अपना शाप नहीं लौटा सकता। अब आप गमन करें।

उतङ्क—तुमने मुझे शाप दिया था कि तुमने अदूष्य अन्न को दूष्य ठहराया है, इस लिये तुम निस्सन्तान हो। किन्तु जब तुमने भी उस अन्न को दूष्य मान लिया, और यह भी मान लिया कि मैंने वृथा दोषारोपण नहीं किया था, तब आपका यह शाप मुझे कभी नहीं लग सकता, अब मैं जाता हूँ।

यह कह कर उतङ्क वहाँ से चल दिये। उतङ्क पौष्यमहिषी से माँग कर दोनों कुण्डल लिये जाते हैं, यह जान कर, नागराज तक्षक ने नग्न क्षपणक का रूप धारण किया और जिस मार्ग से उतङ्क जा रहे थे, उसी पर वे चलने लगे। उतङ्क ने चलते चलते देखा कि एक नग्न क्षपणक कभी तो दिखलाई पड़ता है और कभी छिप जाता है। अनन्तर उतङ्क उन दोनों कुण्डलों को भूमि पर रख कर स्नानादिक क्रिया करने लगे। इतने में वह नग्न क्षपणक चुपके चुपके आया और उन कुण्डलों को उठा कर भाग खड़ा हुआ। उतङ्क ने अपने काम से जल्दी छुट्टी पाकर शुचि और संयत होकर, गुरुदेव को प्रणाम किया और बड़े वेग से

वे उस क्षपणक के पीछे दौड़े। तक्षक जब उतङ्क द्वारा पकड़ लिया गया तब उसने क्षपणक का रूप परित्याग कर, झट अपना निज रूप धारण किया और पास ही एक बड़े बिल में समा गया। अन्त में वह नागलोक में अपने घर जा पहुँचा।

तब उतङ्क को चेत हुआ और उन्हे पौष्यमहिषी की बात का स्मरण हुआ, वे अपने हाथ की लकड़ी से तक्षक का पीछा करने के अभिप्राय से उस बिल को खोदने लगे। ब्राह्मण कुमार को, बड़ा क्लेश हो रहा है—देख कर, इन्द्र ने उसकी सहायता के लिये वज्र को नियुक्त किया वज्र ने उतङ्क की लकड़ी की नोक में प्रवेश कर, क्षण भर में उस बिल को खोद डाला। उतङ्क उस बिल मार्ग से नागलोक में पहुँचे। नागलोक में अनेक प्रासाद, हर्म्य अट्टालिका गृहचूडा, द्वार और विविध आश्चर्यकर क्रीड़ास्थान देख कर उतङ्क बडे प्रसन्न हुए। फिर वे नागों की स्तुति करने लगे। किन्तु विप्रवर्य उतङ्क जब स्तवद्वारा नागों को प्रसन्न न कर सके तब वे बडे चिन्ताकुल हुए। जब अनुनय विनय करने पर भी उन्हे वे दोनो कुण्डल न मिले तब उद्विग्न हो वे चारों ओर देखने लगे। इतने में उन्होंने देखा कि दो उत्तम वस्त्रालङ्कार से सुसज्जित स्त्रियाँ काले और सफ़ेद सूतों से वस्त्र बिन रही हैं। पास ही बारह आरों का एक पहिया है जिसे छ बालक घुमा रहे है। फिर उतङ्क ने एक पुरुष और घोडा देखा। उसी पुरुष की वे उपासना करने लगे।

उतङ्क की उपासना से वह पुरुष उन पर प्रसन्न होकर कहने लगा :—

पुरुष -वत्स ! आपके स्तव से मैं परम प्रसन्न हुआ, अब मैं तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूँ ?

उतङ्क ने उनसे यह भी कहा कि ऐसा कीजिये कि जिससे सब नाग मेरे वश में हो जायं। यह सुन उस पुरुष ने कहा कि इस घोड़े के अपान देश में फूँक मारो।

विप्रर्षि उतङ्क ने उस पुरुष के कथनानुसार काम किया। उनके वैसा करते ही उस घोड़े के सब शरीर के छिद्रों से धूम सहित अग्नि निकली। उस अग्नि से सारा नागलोक उतप्त हुआ। अग्नि के भय से नागराज तक्षक डरे और दोनों कुण्डलों को लिये हुए विप्रवर्य उतङ्क के निकट गये और बड़ी नम्रता से कहने लगे—"भगवन्! आप अपने इन दोनों कुण्डलों को लीजिये।" कुण्डल तो लौट आये, पर उतङ्क के ऊपर अब दूसरी चिन्ता सवार हुई। वह यह थी कि गुरुगृह से इतनी दूर निकल आने पर गुरुआनी ने जो अवधि निर्दिष्ट कर दी है, उसके भीतर क्योंकर वहाँ पहुँच सके। अन्त में अनन्योपाय होकर, उन्होंने फिर उसी महापुरुष का आश्रय ग्रहण किया और विनय पूर्वक कहने लगेः—

उतङ्क—प्रभो! किस प्रकार मैं क्षण भर में गुरुगृह पहुँचूँ यदि आप इसका कोई उपाय बता देंगे, तो मैं आपका सदा अनुगृहीत रहूँगा।

पुरुष—उतङ्क! इसी घोड़े पर चढ़ो, यह तुम्हें पलक मारते गुरुगृह पहुँचा देगा।

यह सुन उतङ्क झट उस घोड़े पर सवार हो गये और क्षणभर में वहाँ पहुँच गये।

उधर उतङ्क की गुरुपत्नी स्नान कर और कपड़े पहन कर, केश सम्हाल कर विचार रही थी कि 'उतङ्क अभी तक क्यों नहीं आया? यदि समय पर उसने कुण्डल लाकर न दिये, तो मैं

अवश्य उसे शाप दूँगी।" इस प्रकार वे मन ही मन विचार रही थी कि इतने में कुण्डल लिये हुए उतङ्क आ पहुँचे और गुरुआनी को प्रणाम कर दोनों कुण्डल सामने रख दिये। कुण्डलों को लेकर महर्षि वेद की सहधर्मिणी ने कहाः—

ऋषि-पत्नी—बेटा! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम ठीक समय पर आ पहुँचे। तुम बड़े भाग्यवान् हो कि मैंने तुम्हें शाप नही दिया। मैं आशीर्वाद देती हूँ तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो।

उतङ्क ने प्रणाम पूर्वक गुरुपत्नी का आशीर्वाद शिरोधार्य किया। अनन्तर उनसे विदा माँग उतङ्क गुरु के समीप गये और प्रणाम कर एक ओर हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। उपाध्याय ने कुशल पूँछ कर कहाः-

वेद—बेटा उतङ्क! इतनी देर तुम्हें कहाँ लगी?

उतङ्क—भगवन्! नागराज तक्षक ने कुण्डल लाने में बड़ा विघ्न डाला। इसीलिये मुझे नागलोक में जाना पड़ा।

यह कह कर उतङ्क ने सब घटनाएँ उनसे कही। अन्त में बोले.—

उतङ्क—प्रभो! वहाँ मैंने दो स्त्रियाँ देखीं जो सफेद और काले सूत्रों से कपड़े बुन रही थीं, वे कौन थीं? वहाँ और भी एक विचित्रता देखी। छः लड़के एक बारह आरे का पहिया घुमा रहे थे। वे कौन थे, वहीं पर एक पुरुष और एक बृहत्काय घोड़ा भी देखा। उन दोनों को भी मैं न पहचान सका। जब मैं यहाँ से राजा पौष्य के यहाँ जा रहा था,

तब रास्ते में मुझे बैल पर चढ़ा एक पुरुष मिला, जिसने मुझसे यह कह कर कि तुम्हारे गुरु ने भी खाया है, गोबर खिलाया। हे प्रभो! वह पुरुष कौन था? इन सब बातों के जानने की मुझे बड़ी उत्कण्ठा है। कृपया मुझे जनाइये।

यह सुन अभ्रान्त दृक्-ज्ञान-प्रवर महर्षि वेद ने कहाः—

वेद—तुमने जो दो स्त्रियाँ देखी वे धाता और विधाता थीं। सफ़ेद और काले सूत दिन और रात थे। वह चक्र सम्वत्सर था और छः बालक जो उसे घुमा रहे थे— वे ऋतु थीं। वह पुरुष साक्षात् इन्द्र थे और अश्व रूप धरे जो तुमने देखा वे अग्नि थे। रास्ते में तुम्हें जो पुरुष मिले थे वे भी इन्द्र थे और वह बैल ऐरावत हाथी था। इन्द्र ने जो गोबर तुम्हें खिलाया वह गोबर न था, अमृत था। अमृत खाने ही से तुम नागलोक में जाकर भी न मरे। इन्द्र मेरे परम मित्र हैं। उन्होंने तुम्हें क्लेशित देख कर ही अनेक प्रकार से अनुग्रह कर तुम्हारी सहायता की। उन्हींकी सहायता से तुम्हें फिर कुण्डल मिल सके। हे सुशील! मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ कि अब तुम अपने घर चले जाओ। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेगा।

ब्रह्मचर्य उतङ्क उपाध्याय प्रवर से इस प्रकार अनुमति प्राप्त कर अपने घर गये। पर तक्षक ने उन्हें जो वृथा तङ्ग किया था, इसका उन्हें बड़ा दुःख था। उतङ्क तक्षक से बदला लेना चाहते थे। घर पर उनको चैन न पड़ा और वे हस्तिनापुर गये। वहाँ राजा जनमेजय से मिले और तक्षक के विरुद्ध उन्हें यह कह कर

भडकाया कि तक्षक ही ने तुम्हारे पिता को डसा था। जनमेजय ने यह सुन सर्पयज्ञ कर के सर्पवंश का समूल नाश करने का संकल्प किया और सर्पयज्ञ की तयारियँा हुईं। बड़ी धूमधाम से यज्ञ आरम्भ हुआ। असंख्य सर्प मंत्रवल से खिच कर अपने आप अग्निकुण्ड में गिरते और भस्म हो जाते थे। तक्षक मारे डर के इधर उधर भाग कर, प्राण बचाता फिरता था। अन्त मे मारे डर के तक्षक इन्द्र के सिंहासन के नीचे जा छिपा।

इधर जब जनमेजय ने देखा कि अनेक प्रकार के और असंख्य सर्पों का नाश हो चुका, पर तक्षक जिसके लिये यह यज्ञ रचा गया वह तो आया ही नही। तब तपोवल से जान कर ऋषियों ने कहा--"तक्षक इन्द्र के सिंहासन के नीचे छिपा है।" यह जान कर ऋषियों ने मंत्रवल से इन्द्र के सिंहासन सहित तक्षक की आहुति दी। मंत्रों के प्रभाव से तक्षक सिंहासन सहित खिंच-कर चला आया। तब इन्द्र के बीच में पड़ने से जनमेजय ने सर्पयज्ञ बन्द किया और अपने कुल का सर्वनाश करा, तक्षक बच गया। पर तक्षक को एक तेजस्वी ब्राह्मण को छेडने का पूरा पूरा फल मिल गया।

शिक्षा।

(१) जो शिष्य अपने गुरु की सेवा शुश्रूषा करते हैं, उनके सब अभीष्ट उसी प्रकार सिद्ध होते हैं, जैसे उतङ्क के हुए। गुरु-सेवा परायण शिष्य के मनुष्य तो मनुष्य, देवता भी अनुकूल हो जाते हैं। इसलिये शिष्य को उचित है कि वह सदा गुरु की मन वच काय से सेवा करे। साथ ही सेवाधर्म परम गहन है। बडी सावधानी से इस धर्म को निबाहना चाहिये। मनुष्य की सेवाधर्म में अनेक बार उतङ्क की तरह परीक्षा ली जाती है।

किन्तु जिस प्रकार उतङ्क आश्रम-वासिनी स्त्रियों की परीक्षा में अग्नि-तप्त सुवर्ण की भाँति देदीप्यमान निकले, वैसे ही इतरजनों को भी इस ओर ध्यान रखना चाहिये।

(२) चलते चलते अथवा खड़े हो कर न तो कभी कुछ खाना चाहिये और न चलते चलते अथवा खड़े खड़े आचमन अथवा जल से कुल्ला कर, मुख शुद्ध करना चाहिये।

(३) विपत्ति पड़ने पर, और जहाँ देखे कि अपनी सामर्थ्य से काम नहीं होता वहाँ, स्तुति द्वारा अपना काम निकाल लेना चाहिये, यही बुद्धिमानी है।

(४) तपस्वी तेजस्वी ब्रह्मचारी को कभी न छेड़ना चाहिये। ब्रह्मचारी ब्राह्मण को छेड़ना वैसा ही है जैसा एक विषधर सर्प का छेड़ना। तक्षक ने यदि उतङ्क को न छेड़ा होता तो उसकी जाति के असंख्य सर्प क्यों जनमेजय के यज्ञ में भस्म होते?
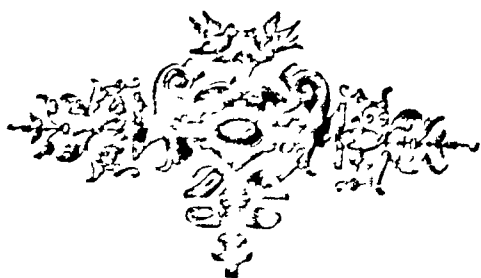
२४–राजा चित्रकेतु और अङ्गिरा का उपाख्यान।

(संसार की असारता।)

शूरसेन देश में एक राजा हो गये हैं जिनका नाम चित्रकेतु था। चित्रकेतु की इच्छानुसार पृथ्वी सब वस्तुओं को उत्पन्न करती थी। चित्रकेतु के एक करोड़ रानियाँ थीं और सन्तान उत्पन्न करने की उनमें सामर्थ्य भी थी तथापि उनके औरस से उन रानियों के गर्भ से एक भी सन्तान न जन्मी। रूप, उदारता, यौवन, विद्या, ऐश्वर्य और श्री—ये सारे गुण चित्रकेतु में विद्यमान थे, परन्तु वन्ध्या स्त्रियों के पति होने से उनका मन सदा दुःखी और चिन्ताकुल रहा करता था। अतुलित सम्पत्ति, एक करोड़ रानियाँ पृथ्वी का एक छत्रराज होने पर भी, चित्रकेतु एक वंशधर पुत्र न होने से सदा चिन्तित रहते और सुख की ये सारी सामग्री उन्हें दुःख ही का कारण जान पड़ती थीं।

एक दिन ऋषि अङ्गिरा घूमते घामते, अचानक चित्रकेतु के घर जा पहुँचे। राजा ने बड़े आदर सत्कार के साथ उनका पूजन किया। ऋषिप्रवर ने श्रद्धायुत राजा का अतिथि-सत्कार ग्रहण कर प्रसन्न हो कहाः—

अङ्गिरा—राजन्! तुम प्रजा सहित प्रसन्न तो हो! वही राजा प्रसन्न रहता है, जो प्रजा को हर प्रकार से प्रसन्न रखता है। प्रजा भी तभी सुख में रह सकती है, जब वह अपने धन की रक्षा का भार अपने राजा को सौंप देती है।

हे राजन्! तुम्हारी रानियाँ, तुम्हारे मन्त्री, सेवक, पुरवासी, जनपदवासी, सामन्त, राजन्यवर्ग और पुत्र, ये सब तुम्हारे कहे में चलते हैं न? तुमने मन को अपने वश में कर रखा है न? जो मनुष्य अपने मन को वश में कर लेता है उसका लोक परलोक में समान रूप से आदर होता है। तुम्हारे रङ्ग ढङ्ग से जान पड़ता है कि तुम्हें किसी प्रकार की गुप्त चिन्ता है, इसीसे तुम अपने पराये किसी से भी प्रसन्न नहीं होते। तुम्हारा मुख भी मलीन हो रहा है।

ऋषि अङ्गिरा सर्वज्ञ थे, जब उन्होंने चित्रकेतु पर इस प्रकार सन्देह प्रकट किया, तब पुत्र के चाहने वाले राजा ने विनीत भाव से प्रणाम पूर्वक कहाः—

चित्रकेतु—भगवन्! आप योगी हैं। आप लोगों का पाप नष्ट हो गया है। आप अपनी तपस्या के प्रभाव से घटघट का हाल जानते हैं। आपसे कोई बात छिपी नहीं है। पर यह मेरा दुर्भाग्य है कि आप सर्वज्ञ होकर भी मुझसे पूछते हैं। मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं कि आपकी बात टाल सकूँ, अतएव आपकी आज्ञानुसार कहता हूँ। मेरा ऐश्वर्य, साम्राज्य और सम्पत्ति ऐसी है कि लोकपाल

भी उसकी स्पर्द्धा करते हैं, पर मेरे आगे मेरा वंश विस्तार करने वाला पुत्र नहीं है, इसीसे जिस प्रकार अन्नपानाभिलाषी पुरुष को स्रक चन्दनादि सुखप्रद सामग्रियाँ प्रसन्न नहीं कर सकती, वैसे ही इन सब से मुझे कुछ भी आनन्द नहीं प्राप्त होता है। पुत्र न होने से मैं और मेरे पूर्वपुरुषों के नरक में गिरने की सम्भावना है। अतएव आप वही कीजिये जिससे मैं पुत्र प्राप्त कर के नरक से छुटकारा पाऊँ।

राजा के इस प्रकार प्रार्थना करने पर परम दयालु विप्रप्रवर अङ्गिरा ने चरू बना कर त्वष्टा के उद्देश्य से हवन किया। कृतद्युति नामक राजा की रानी अन्य सब रानियों से बड़ी और श्रेष्ठा थी। अङ्गिरा ने उसीको यज्ञ का शेष चरू दिया। अनन्तर राजा से कहाः—

अङ्गिरा—राजन्! तुम्हारे एक पुत्र होगा पर वह हर्ष और शोक दोनों का कारण होगा।

यह कह कर ब्रह्मनन्दन वहाँ से चल दिये। रानी गर्भवती हुई और शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह उनका गर्भ बढने लगा। प्रसवकाल उपस्थित होने पर रानी ने एक कुमार उत्पन्न किया। यह सुन कर शूरसेन-वासी बहुत प्रसन्न हुए। राजा चित्रकेतु ने प्रसन्न होकर पहले तो स्नान किये और पवित्र हो तथा वस्त्र पहन कर ब्राह्मणों से कहा—'आशीर्वाद दो। फिर पुत्र के समस्त जातिकर्मादि करा कर ब्राह्मणों को सोना चाँदी आदि धन रत्न से सन्तुष्ट किया। पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में चित्रकेतु ने एक अरब गौ दान की। ऐसे अवसरों पर दान पुण्य इसीलिये किया

जाता है जिससे बालक की आयु बढ़े और वह प्रसन्न एवं आरोग्य रहे। राजर्षि को अत्यन्त कष्ट से सन्तान प्राप्त हुई थी, अतएव जिस प्रकार कष्ट से पाये हुए धन पर निर्धनों की ममता बढ़ती है, वैसे ही सन्तान पर दिनों दिन राजा का स्नेह बढ़ने लगा। माता कृतद्युति का भी कुमार पर स्नेह बढ़ने लगा। पर कृतद्युति की सौतें उसके इस सौभाग्य से मारे डाह के जला करती थीं। वे वन्ध्या होने के कारण अपने को अभागी समझ सदा अपने को धिक्कारती थीं, क्योंकि स्वामी का प्रेम उसी पत्नी पर होता है जो पुत्रवती होती है। एक तो ऐसी स्त्रियाँ पति के प्रेम से वञ्चित रहती हैं, दूसरे, उनकी पुत्रवती सौत उनके साथ दासियों जैसा बर्त्ताव करती है।

सौत की पुत्र सम्पत्ति और राजा का अपने प्रति अनादर देख कर, रानियाँ बहुत दुःखित हुईं। उनके मन में डाह उत्पन्न हुआ और डाह उत्पन्न होते ही उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी। बुद्धिभ्रष्ट होते ही उनको अच्छे बुरे का ज्ञान न रहा और राजा पर क्रोध कर उन्होंने कुमार को विष दे दिया। इसकी सूचना कृतद्युति को न थी, अतएव सन्तान को सोता देख, वह घर में इधर उधर घूमने लगी। जब बालक को सोते सोते बहुत देर हुई, तब धात्री से रानी ने कहा— कुमार को उठाकर मेरे पास ले आ।" धात्री ने कुमार की शय्या के पास जा कर देखा कि उसकी आँखों के तारे ऊपर चढ़ गये हैं, प्राण शरीर को छोड़ निकल गया है। यह देख वह 'हाय मैं मर गयी!' कह कर पृथ्वी पर गिर पड़ी और जोर जोर से छाती पीट कर विलाप करने लगी। उसका रोना और विलाप करना सुन रानी कृतद्युति दौड़ कर कुमार के पास गयीं और कुमार की दशा देखते ही वे भी पछाड़ खा कर गिर पड़ीं। इतने में रनवास में हाहाकार सुन, अन्तःपुरवासियों की भीड़

भीड लग गयी। कुमार के मरने का हाल सुनते ही—वे सब लोग भी रोने पीटने लगे।

कुमार की मृत्यु का समाचार सुन और मृत्यु के कारण का कुछ भी पता नहीं चलता—यह जान कर, राजा चित्रकेतु भी रनवास में गये. पर पुत्रशोक का मर्मभेदी समाचार सुनते ही उनकी दृष्टि नष्ट होगयी। अतः मार्ग ही में उनकी टाङ्गें लड़खड़ायीं और गिरने लगे, पर साथियों ने उन्हें सम्हाल लिया। कुमार की शय्या के पास जाकर राजा उसके चरणों में गिर कर मूर्च्छित होगये। उनके केश खुल गये। वस्त्र शरीर से गिरने लगे। वे लम्बी लम्बी साँसे लेने लगे। जब वे सचेत हुए, तब आंसुओं से गला रुक जाने के कारण उनसे बोला तक न गया। स्वामी की यह दशा देख और पुत्र को मृत्युशय्या पर लेटा देख रानी कुररी की तरह विलाप कर कहने लगी:—

रानी—अरे विधाता! तुम बड़े वेसमझ हो। क्योंकि तुम अपनी सृष्टि को विरूप करना चाहते हो। वृद्ध के सामने बालक की मृत्यु! यदि तुम ऐसे विपरीत हो गये हो, तो अवश्य ही तुम प्राणियों के शत्रु हुए हो। यदि अपने अपने कर्म्मों के द्वारा जीवों के जन्म एवं मृत्यु का क्रम न रहे, तो कर्म ही उनके जन्म मृत्यु का स्वामी हो जाय, फिर तुम्हारे रहने न रहने से लाभ अथवा हानि ही क्या हो सकती है? तुम्हारे ईश्वर न रहने पर जड़ कर्म किस प्रकार जन्म अथवा मृत्यु का कारण हो सकता है? यह सत्य है, पर सृष्टि की वृद्धि के निमित्त जिस प्रेम के बन्धन को बनाया है, उसको स्वयं ही क्यों काटते हो? हे पुत्र! मुझे छोड कर तुम्हें

जाना उचित न था। मैं अत्यन्त दुःखिनी अनाथ नारी हूँ। देखो तुम्हारे पिता तुम्हारे वियोग मे कैसे विकल हो रहे हैं? बेटा राजकुमार उठो! यह देखो तुम्हारे साथी बालक खेलने के लिये तुम्हें बुला रहे हैं! तुम्हें सोते सोते बहुत देर हुई! तुम्हें अवश्य अब भूख लगी होगी!

रानी इसी प्रकार के विलाप से लोगों के हृदय को दहला रही थी। महाराज चित्रकेतु भी पुत्र-वियोग जनित-शोक के आघात को न सह कर, मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

प्राचीन काल के राजा लोग ऋषि महर्षियों का मन से जैसा आदर सत्कार करते और उनकी आज्ञा में हाथ जोड़े सदा खड़े रहते थे, वैसे ही ऋषि मुनि भी जब राजाओं पर किसी प्रकार की आपत्ति पड़ती तो उनके प्रति समवेदना प्रकट किया करते थे। जब महर्षि अङ्गिरा ने सुना कि महाराज चित्रकेतु शोक में मग्न हो मूर्च्छित पड़े हैं और उनको समझाने वाला कोई नहीं है तब वे नारद जी को साथ लेकर वहाँ गये।

मृतक के पास मृतक के समान राजा को पड़ा देख, अङ्गिरा एवं नारद ने उनको समझाने के लिये कहाः—

अङ्गिरा एवं नारद—राजेन्द्र! तुम यह शोक किसके लिये कर रहे हो। सृष्टि के मध्य काल में आरम्भ में, इस समय और आगे तुम इसके कौन थे और अब कौन हो? जिस प्रकार बालुका के कण जलस्रोत के वेग में परस्पर संयुक्त हुआ करते हैं, वैसे ही शरीर-धारी भी काल के वेग से मिल कर फिर अलग हो जाया करते हैं। जिस प्रकार एक बीज में दूसरा एक

भी बीज रह सकता है. वैसे ही भगवान् की माया प्राणी के भीतर कभी कल्याण का प्रवेश कराती है, कभी नहीं कराती।

हे राजन्! चराचर, तुम और हम-सब ही वर्त्तमान दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु जैसे जन्म के पहले न थे और मृत्यु के पीछे न रहेंगे, वैसे ही इस समय भी नहीं हैं। जन्मरहित साक्षी स्वरूप है सही, परन्तु बालक के समान अपने उत्पन्न किये पराधीन भूत द्वारा भूत-सृष्टि का संहार करते हैं।

हे राजन्! जिस प्रकार बीज से बीज उत्पन्न होता है वैसे ही देही की देह से, देह द्वारा देह की उत्पत्ति होती है, परन्तु देही पृथ्वी आदि पदार्थों के समान नित्य हैं। जिस प्रकार अज्ञान हेतु वस्तु में सामान्य और विशेष का विभाग किया जाता है, वैसे ही पहले देह और देही का विभाग भी अज्ञान के कारण ही हुआ है।

ऋषियों के इन वाक्यों को सुन राजा चित्रकेतु का मन शान्त हुआ और शरीर की धूल झाड कर वे कहने लगे —

राजा—आप कौन हैं? अवधूत वेश बनाये गुप्त भाव से इस स्थान में आये हैं। देखता हूँ कि आप ज्ञानी और बड़े से भी बड़े हैं। आप मुझ सरीखी बुद्धि वाले प्राणियों को समझाने के लिये, भगवत्प्रिय ब्राह्मण बनकर उन्मत्त वेश से इच्छानुसार भ्रमण किया करते हैं। सनत्कुमार नारद, अङ्गिरा प्रमुख ऋषिगण ज्ञानोपदेश के लिये ही विचरण किया करते हैं।

अतः मुझ ग्राम्यपशु, मूढबुद्धि के लिये आप लोग ज्ञानदीपक हो कर उदित हो।

अङ्गिरा—मैं अङ्गिरा हूँ। जिस समय तुमने पुत्र की कामना की थी उस समय मैंने तुम्हें पुत्रदान किया था। यह ऋषि साक्षात् ब्रह्मनन्दन भगवान् नारदजी हैं। राजन्! तुम हरिभक्त हो और इस समय पुत्रशोक में डूबे हुए हो। यह सुन कर हम तुम पर अनुग्रह करने के लिये यहाँ आये हैं। ब्रह्मण्य और भगवद्भक्त का अवसन्न होना उचित नहीं है। जब मैं तुम्हारे घर पर आया था, उस ही समय मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान सिखला देता, परन्तु उस समय तुम्हारा मन दूसरी ओर लगा था। इस कारण पुत्र तुम्हें दिया। जिनके पुत्र हैं उनको कितना दुःख होता है। तुम इस समय स्वयं उसका अनुभव करते हो। स्त्री, गृह, शत्रु, ऐश्वर्य्य आदि को भी इस ही प्रकार जानो। सम्पत्ति, राज्य, श्री, पृथिवी आदि सभी पदार्थ चलायमान हैं। हे शूरसेन! यह शोक मोहमय है और क्लेश को उत्पन्न करने वाला है। ये गन्धर्व लोक के समान क्षणभर को दिखलाई देकर फिर छिप जाते हैं। जिस प्रकार स्वप्न माया, मनोरथ सभी अलीक हैं, उसी प्रकार ये सब भी मिथ्या हैं, क्षण भर के बाद ही ये भी लोप हो जाते हैं।

इसके बाद जब राजा का मन कुछ कुछ स्थिर हुआ, तब महर्षि अङ्गिरा ने संसार की अनित्यता दिखलाते हुए कहा,—"कर्म वासना योग में कर्म की चिन्ता करते करते ही अनेक कर्मों की उत्पत्ति होती है। यह शरीर पञ्चतत्त्व, और आत्मा से

बना हुआ है। पण्डितों का कहना है कि यह शरीरधारियों को अनन्त क्लेश और तापों को उत्पन्न करता है। अतएव तुम जो द्वैत वस्तु को निश्चित मानते हो, सो तुम स्थिरचित्त से अपनी गति विचार करके इधर उधर के विश्वास को छोड़ शान्ति का अवलम्बन करो।" इसके अनन्तर नारद जी ने कहा:—

नारद—मैं तुमको एक मंत्र बतलाता हूँ। यह मंत्र परम मङ्गलमय है। तुम एकाग्र मन करके इसे ग्रहण करो। इसके ग्रहण करने से सहज रीति ही से प्रभु संकर्षण के तुम्हे दर्शन होगे। हे राजन्! पूर्वकाल मे जिन भगवान् संकर्षण के चरणमूल को प्राप्त होकर, सब देवगण इस द्वैत भ्रम को छोड़ तत्काल उनकी महिमा को समझ गये थे, तुम भी उनकी महिमा को शीघ्र ही समझ सकोगे। उस महिमा के समान कोई वस्तु नहीं है।

अनन्तर देवर्षि नारद ने अनुतापकारी बन्धुओं के सामने ही परलोकगत राजपुत्र को देख कर, कहा—'हे जीवात्मा! तुम्हारा मङ्गल हो देखो तो तुम्हारे माता पिता और भाईबन्द तुम्हारे लिये अति दुखी हो रहे हैं, अतएव अपने शरीर में प्रवेश कर, जितनी परमायु शेष है उतने दिनों तक राज्यासन पर बैठ बन्धु बान्धवों के साथ पिता के दिये समस्त भोगों को भोगो।' इस पर जीव ने कहा -' मैं कर्मानुसार देवता तिर्यक और नर योनि मे घूमता फिरता हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि ये किस योनि मे मेरे माता पिता हुए थे? क्रमानुसार सब ही परस्पर एक दूसरे के बन्धु ज्ञाति, शत्रु, मित्र और उपेक्षक हुआ करते हैं। जिस प्रकार मोल लेने और बेच देने योग्य स्वर्णादि धन ग्राहक और विक्रेताओं के बीच एक हाथ से

दूसरे हाथ में फिरा करता है, वैसे ही जीव भी अनेक योनियों में भ्रमण किया करता है। देखा जाता है कि संसार में पश्वादि के साथ मनुष्य का सम्बन्ध चिरस्थायी नहीं है, जितने दिनों तक जिसके साथ सम्बन्ध रहता है, उतने दिनों तक ही उसके प्रति उसको ममता रहती है। इस प्रकार आधारशून्य नित्य जीव जन्म ग्रहण करके जितने दिनों तक जिस पुरुष के पास रहता है, उतने दिनों तक उसके ऊपर उसका व्यक्तित्व रहता है। नित्य, अव्यय, जन्म, मरण, रहित, सर्वाश्रय और स्वप्रकाश भगवान् अपने माया गुण से अपने ही को विश्वरूप में सृष्टि करते हैं। यह शत्रु और मित्र रूपी कर्त्ताओं की विविध बुद्धि के साक्षी हैं, अतएव शत्रु मित्र के साथ उनका मेल नहीं है। फिर इनका कोई प्यारा व कुप्यारा और पराया अथवा अपना नहीं है। सूक्ष्म और स्थूलदर्शी आत्मा गुण, दोष और क्रियाफल कुछ भी ग्रहण नहीं करते, केवल उदासीन के समान स्थिर रहते हैं।"

यह कह कर जीव चला गया। तब उसके भाई बन्द विस्मित हो और आत्मा के स्नेह को छोड़ कर्त्तव्यकर्म समाप्त कर शोक भय एवं क्लेशजनक कठिन स्नेह को छोड़ बैठे। बालक को विष देने वाली रानियाँ बहुत लज्जित हुईं और बालक का वध करने के कारण उनकी प्रभा नष्ट होगयी। उस समय उन्होंने अङ्गिरा के वाक्यों को स्मरण कर, पुत्रप्राप्त करने की लालसा को छोड़ यमुना के निकट ब्राह्मणों का बतलाया हुआ शिशु-हत्या व्रत ग्रहण किया। नारद और अङ्गिरा के वाक्य से आत्मज्ञान प्राप्त होने पर राजा चित्रकेतु उस प्रकार अज्ञान रूपी अन्धकार-मय कूप से निकले जिस प्रकार हाथी दलदल से निकलता है।

शिक्षा।

(१) इस उपाख्यान में सर्वोत्कृष्ट उपादेय अंश राजा और महर्षि अङ्गिरा एवं नारद का कथोपकथन है, जिससे संसार की अनित्यता सिद्ध होती है और जड पदार्थों से विराग उत्पन्न होता है, उस अंश को बार बार ध्यान देकर पढ़ना चाहिये।

(२) विष देने वाली रानियों की तरह कभी कोई ऐसा काम न करना चाहिये, जिससे पीछे सदा के लिये पछतावा का पछतावा रह जाय और सब लोग निन्दा करें। हरेक कार्य करने के पूर्व मनुष्य को उचित है कि उसके अच्छे बुरे परिणाम को भली भाँति समझ ले।

(३) प्राचीन काल की बहु-पत्नि-विवाह की प्रथा का दोष भी इस उपाख्यान से स्पष्ट प्रतीत होता है। स्त्रियों की बुद्धि वैसे ही प्रलयङ्करी प्रसिद्ध है तिस पर एक नही, दो नहीं, सौ नही, हजार नहीं, लाख भी नहीं, जिस राजा चित्रकेतु के एक करोड़ रानियाँ थीं—वहाँ यदि बालक को विष देने वाली घटना हुई हो तो आश्चर्य की कोई बात ही नहीं। यदि ऐसी घटना न हुई होती तभी आश्चर्य था। स्त्री के लिये जैसे एक पति की सेवा करना धर्म है, वैसे ही पुरुष के लिये भी एक-पत्नि-व्रत धारण करना परमावश्यक है।

२५ गज और ग्राह का उपाख्यान।

[भगवान् की भक्तवत्सलता।]

क्षीर समुद्र से चारों ओर घिरा हुआ अत्यन्त मनोहर त्रिकूट नामक एक पर्वत है। यह महीधर दस हजार योजन ऊंचा और दस ही हजार योजन विस्तार वाला है। इसके सुवर्णमय, रौप्यमय, और लोहमय, तीन शिखर आकाशमण्डल और समुद्र को अत्यन्त प्रकाशमान् किये हुए हैं। अनेक प्रकार के रत्न, नाना प्रकार की धातु, भिन्न भिन्न वृक्ष लतादि गुल्म और झरने झर कर, इस अचल की शोभा को अत्यन्त मनोहर कर रहे हैं। क्षीर-सागर की सुन्दर तरङ्गें इस पर्वत के मूल को धोती हुई अनोखी चाल से चली जाती हैं। उन मरकत मणियों की प्रभा से जो इस पर्वत में विराजमान हैं—समस्त पर्वत हरा भरा दिखलाई पड़ता है। इस गिरिराज की गुफा में विद्याधर, गन्धर्व, सिद्ध चारण, महोरग, और किन्नर तथा अप्सरागण आमोद प्रमोद में सदा निमग्न रहते हैं। उनके सङ्गीत के गुञ्जार से समस्त कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही हैं। उस गुञ्जार को सुन कर दूसरे मृगेन्द्र ऐसा समझते हैं कि यह दूसरे मृगराज का शब्द है। अतः वे अत्यन्त भयङ्कर शब्द से दहाड़ने लगते हैं। झुण्ड के झुण्ड वनैले जन्तु घूमते फिरते उसकी उपत्यका को अत्यन्त सौन्दर्यमयी बना

रहे हैं। उस पर्वत पर अनेक देवताओं के उद्यान हैं, जिनमें नाना प्रकार के वृक्ष हैं। उन वृक्षों पर बैठे हुए अनेक प्रकार के विहङ्ग रङ्ग में रङ्गे उमङ्ग में भरे मीठे बोल बोल कर सुनने वालों के मन को बिना दाम मोल ले लेते हैं। निर्मल जल वाली अनेक स्रोतस्विनी और उनके तट की बालुका की राशि दूर से मणि की नाईं चमक रही है। देवबालाएँ उस नदी में स्नान करती हैं। उनके अङ्ग की सुगन्ध भरी सुबास से उस पर्वत के पवन में भी अति सुगन्धि का सञ्चार हो गया है। उस पर्वत की उपत्यका में भगवान् वरुण का ऋतुमत नामक एक अत्यन्त मनोहर उद्यान है। उसमें देवाङ्गनाएं विचरा करती हैं। मन्दार, महुआ, पारजात, पिलखन पियाबासा, करौंदा, पाटल, बडहल, आम, अमडा, आंवला, नारियल खजूर, साल, ताड़, तमाल, नामक अनेक वृक्षों से त्रिकूट पर्वत की शोभा बढ़ रही है।

इसी नगेन्द्र पर एक सरोवर है उसमें कुमुद सुनहरे कमल तथा अनेक प्रकार के पद्म खिल रहे हैं। हँस, कारण्डव, चकवे, सारस, आदि जलपक्षी उसमें किलोलें कर रहे हैं। भ्रमर और अन्य सुरीले पक्षी भी इस स्थान में सदा मधुर कण्ठ से गान किया करते हैं। मत्स्य और कच्छप द्वारा हिले हुए पद्मों का पराग जल में गिरता है और कदम्ब, कुन्द, कुरवक नामक फलदार वृक्ष उस सरोवर के तट की शोभा बढ़ा रहे हैं।

एक समय इसी त्रिकूटाचल पर्वत का रहने वाला एक बडा हाथी अपनी हथिनियों के साथ, कीचक बाँस और अन्य वृक्षों को चीरता चारता चर रहा था। सिंह व्याघ्रादि क्रूर जन्तु उसके भय से दूर भागे परन्तु वराह महिषादि और अन्यान्य क्षुद्र जन्तु, गजराज की कृपा से निर्भय हो, दूर दूर तक चरते थे। धूप के ताप से सन्तापित हो, गजेन्द्र और उसकी हथिनियाँ

बड़ी प्यासी उस सरोवर पर गयीं। गजेन्द्र के मस्तक से उस समय मद चू रहा था। भ्रमर उसे पी रहे थे। गजराज ने उस सरोवर में स्नान कर, पद्मराज मिले हुए जल को पेट भर कर पिया। साथ ही सूँड़ में जल भर कर बच्चों और हथिनियों को भी जल पिलाया और उन्हें स्नान भी कराये।

गजेन्द्र इस प्रकार मद से विह्वल और नारायण की माया से मोहित हो जलक्रीड़ा कर रहा था। उसी समय उसी सरोवर में रहने वाले एक महाबली ग्राह ने काल से प्रेरित हो, उस हाथी पर आक्रमण किया। हाथी भी बड़ा बली था। दोनों एक दूसरे को अपनी अपनी ओर खींचने लगे, परन्तु कोई भी किसी को जीत न सका। हाथी को व्याकुल देख कर हथिनियाँ और उनके बच्चे बड़े जोर से चिंघाड़ने लगे। वे सब हाथी की पूँछ पकड़ कर जल के बाहिर खींचने लगे पर किसी प्रकार वे उसे छुड़ा न सके। बहुत दिनों तक गज और ग्राह में युद्ध होता रहा।

धीरे धीरे जल में बहुत देर तक रहने के कारण गज का बल वीर्य एवं उत्साह धीरे धीरे घटता गया परन्तु जलचर होने के कारण ग्राह का बलवीर्य बराबर बढ़ता गया। यूथपति अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख चिन्ता करने लगे। बहुत दिनों तक चिन्ता करके उसने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि जब ये सब बन्धुगण मेरी रक्षा करने को समर्थ न हुए और मैं भी असमर्थ हो गया तब ये दुर्बल हथिनियाँ मुझे क्या छुड़ावेंगी? यह कालरूपी ग्राह विधाता का भेजा हुआ है अतएव इस समय मैं विधाता के आश्रय काल के नियन्ता और समस्त विपत्तियों से रक्षा करने वाले परम पुरुष नारायण की शरण में जाता हूँ। इस प्रकार निश्चय कर और सावधान हो कर, गजराज ने पूर्व जन्म के अभ्यस्त परमस्तुतिकारी मंत्र का जप आरम्भ किया।

गजेन्द्र बोला—प्रकृति पुरुष रूपी भगवान् सब शरीरों में कारण रूप से प्रवेशित है और जिनको चैतन्यमय किया है-ऐसे जगत् के एकमात्र ईश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ। यह संसार जिनमें प्रतिष्ठित है, यह ससार जिनसे उत्पन्न हुआ है, जो स्वयं विश्वरूपी है, जो कार्य और कारण दोनों से अलग है, मै उन्हीं आत्मभू भगवान् के शरण हूँ। जिनकी अद्भुत मायाशक्ति से कभी यह संसार प्रकट होता कभी लोप होता है, जो विना पलक लगने वाले नेत्रों से साक्षी की भाँति कर्म और कारण को देखते हैं जो प्रकाशक नेत्रों के भी प्रकाशक स्वरूप हैं, वे परमपुरुष परमेश्वर मेरी रक्षा करें।

काल के द्वारा समस्त लोक और लोकपालों का नाश हो जाने पर यह संसार अनन्त और गाढ़ अन्धकार से ढक जाता है। भगवान् उस अन्धकार के दूसरी ओर रहते हैं।

प्राचीन लोग और ऋषि देवता जिन भगवान् के रूप को जानने में असमर्थ हैं, आजकल के जीव उनके रूप को किस प्रकार जान सकते हैं?

अनुकरण करने वाले नट की नाईं जिनका चरित अति कठिनता से जानने योग्य है, वे ही श्री मन्नारायण उद्धार करें।

हे मङ्गलनिधान भगवान् तुम्हारा दर्शन पाने के अर्थ, भगवद्भक्ति और सब प्राणियों में समदर्शी मुनि सब प्रकार के सङ्ग को छोड वनवास कर ब्रह्मचर्यादि कठिन व्रतों को धारण करते हैं—वे ही परम पुरुष आप मेरी सद्गति करें।

जिनका जन्म कर्म, नाम, रूप, दोष और गुण कुछ भी नहीं है, तथापि इस संसार के उत्पन्न संहार और प्रतिपालन के लिये वे उक्त नाम रूपादि को धारण करते हैं। वे इस जगत

के अद्वितीय ईश्वर और परब्रह्म हैं उनकी शक्ति असीम और कार्य अद्भुत है। वे विविध रूप धारण करके इस संसार में विराजमान रहते हैं—मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

वे इस विश्व को प्रकाश करते हैं और आपसे स्वयं भी प्रकाशित होते हैं वे समस्त जीवों के नियन्ता और वाक् मन के अगोचर हैं—मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

निर्मल और निर्गुण, सन्यास धर्म का अवलम्बन करने से जिनका स्वरूप जाना जाता है, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

जो सर्वदा मोक्षानन्द को अनुभव करते हैं, जो जीव के मुक्तिदाता, शान्त, समदर्शी और ज्ञानमय हैं मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

हे भगवन्! आप इस संसार के आत्मा, अध्यक्ष और साक्षी रूप से विराजमान रहते हैं, आप सब के आदि हैं, अतएव आप आत्मा के आत्मा और प्रकृति के प्रकृति हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

आप समस्त इन्द्रियों के विषयों के द्रष्टा हैं, यह भौतिक जगत सब प्राणियों में आप ही के अस्तित्व का प्रमाण देता है, इन्द्रियों के द्वारा हम इस संसार के समस्त विषयों को जान सकते हैं। अतएव इन्द्रियों की वृत्ति भी आपके अस्तित्व को प्रकट करती है। आपको प्रणाम है।

आप सब के कारण स्वरूप हैं, परन्तु आपका कोई कारण नहीं है जिस प्रकार मृत्तिकादि में विकार होने पर वह घटादि का कारण कहा जाता है सो आप वैसे कारण नहीं हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि आप कैसे कारण हैं।

जैसे नदियाँ महासागर में गिरती हैं, वैसे ही समस्त शास्त्र— आगम निगम और वेद आप ही में शेष होते हैं। आप साधुओं के मोक्षरूपी आश्रय हैं—मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

जिस प्रकार अग्नि काठ के भीतर रहती है, वैसे ही आप गुण से ढके हुए शुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। गुण से उत्पन्न हुए कार्य में आप लिप्त नहीं होते। जो लोग सदा आत्मा का खोज किया करते हैं, जो शास्त्र की विधि निषेध को कुछ नही समझते, आप उनके अन्तःकरण में स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

आपको किसी प्रकार की आपत्ति विपत्ति नहीं है, आप मुक्त पुरुष हैं। अतएव मेरे समान विपत्ति से ग्रसित पशुओं को आपके विना कौन उद्धार कर सकता है? आप अत्यन्त दयालु हैं अतएव मेरी रक्षा करने में विलम्ब न कीजिये—आपको नमस्कार है।

आप समस्त शरीरधारी जीवों में अन्तर्यामी रूप से वास करके चित्त स्वरूप में प्रकाश करने वाले हैं, परन्तु जीवगण आपके अन्त को नहीं जान सकते। सब प्राणियों के शासनकर्त्ता आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

जो मनुष्य धन, गृह, देह, पुत्र, आत्मीय और सेवकादि में आसक्त होते हैं, वे कभी आपको नहीं प्राप्त होते। आप निर्गुण हैं, जिनको देहादि में आसक्ति नहीं है, केवल उनही के हृदय मन्दिर में आप प्रकट होते हैं। आप ज्ञान रूपी भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिये जो आपकी उपासना करता है, आप उसकी समस्त अभिलाषाएँ

पूर्ण करते हैं—लोग आपकी सेवा कर के निर्विघ्न मङ्गल और अविनाशी शरीर पाते हैं। आपकी दया असीम है। आप मेरा उद्धार कीजिये।

हे भगवन्! आपके एकान्त भक्त किसी प्रकार की भी कामना नहीं करते, केवल आपके अद्भुत और मङ्गलमय चरित्र को गाते हैं। आप अव्यक्त, अनन्त, आद्य और पूर्ण ब्रह्म हैं। मैं आपकी पूजा करता हूँ।

हे अनन्त! आपके अति साधारण अंश से ब्रह्मादि देवता वेद समूह और यह स्थावर जङ्गम मय संसार उत्पन्न हुआ है। जैसे तेज अग्निसे और किरण सूर्य से निकलती है और फिर अग्नि एवं सूर्य ही में लीन होजाती है वैसे ही मन बुद्धि इन्द्रिय देह समूह और संसार जिनसे प्रकाश पाता है, फिर उन्हींमें लीन हो जाता है।

वह देवता मनुष्य और पशु नहीं है, वह स्त्री नहीं है, वह पुरुष नहीं है वह नपुंसक भी नहीं है, गुण भी नहीं है, कार्य भी नहीं, सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं है। न वह कोई प्राणी विशेष है। वह यह नहीं वह नहीं—ऐसा विचार करने और खोज करने पर जो कुछ बचता है, वही वह है।

उस अनादि और अनन्त की जय हो, मैं इस घोर संसार में रहने की इच्छा नहीं करता। इस हस्ती जन्म को पाकर अनन्त अज्ञान से ढक गया हूँ। मुझको इस गज-जीवन की आवश्यकता नहीं। मैं आत्म-ज्ञान के आवरणस्वरूप अज्ञान से छूटने की इच्छा करता हूँ।

यह चराचर संसार जिनसे उत्पन्न हुआ है और यह संसार जिनका स्वरूप है यह विश्व जिनका घर है, यह विश्व

जिसका आत्मा है और इस विश्व से जो पृथक है, उन्हीं परमाशय परब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ।

जो भागवतधर्म का अवलम्बन कर निजोष्क्रिय हो गये हैं, और योगाभ्यास से जिनका चित्त निर्मल और पवित्र हो गया है, वे समस्त योगीश्वर जिन यज्ञेश्वर का दर्शन करते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

हे भगवन्! आपकी तीनों शक्तियों का मेल सहने की किसी में सामर्थ्य नही है। आप विपत्ति-ग्रसित लोगों का पालन करते हैं। आपकी शक्ति असीम है।

जो लोग इन्द्रियों को नहीं जीत सकते, और जो लोग कुमार्ग में उनके द्वारा पहुँचाये जाते हैं, वे कभी आपको प्राप्त नही कर सकते। आपको वारम्बार नमस्कार है।

जो अपनी माया से ढके हुए हैं और अहङ्कारी जीव जिनके स्वरूप को नही जान सकते-उनके माहात्म्य की सीमा नहीं है। मैं इसी कारण उन भगवान् के शरण हुआ हूँ।

गजेन्द्र ने किसी देवता विशेष का नाम न लेकर केवल परब्रह्म की स्तुति की थी—अतः ब्रह्मादि देहाभिमानी देवता उसकी रक्षा करने को नही आये, तब विश्वात्मा और निखिल देवता स्वरूप भगवान्, नारायण, गजराज को अत्यन्त विपद्-ग्रस्त देख कर उसके उद्धार के अर्थ चक्र लेकर और गरुड पर सवार हो वहाँ पहुँचे।

देवता उनके पीछे पीछे उनकी स्तुति करते चले आते थे। उस समय अत्यन्त निर्बल गजराज आकाश मार्ग से भगवान् को आते देख अति कष्ट से सूँड उठा कर कहने लगा :—

हे भगवन्! हे विश्वगुरु! आपको नमस्कार है।

भक्तवत्सल भगवान् गजराज को बड़ी विपत्ति में और महाव्याकुल देख तत्काल गरुड़ की पीठ से उतर ग्राह सहित उसे किनारे पर ले आये। फिर चक्र से ग्राह के मुख को काट गजेन्द्र को छुड़ा दिया।

जब भगवान् ने इस प्रकार गजराज को छुड़ा दिया, तब देवता बहुत प्रसन्न हुए, और उनके ऊपर फूलों की वर्षा करने लगे। असल में हूहू नामक गन्धर्व ऋषि देवल के शाप से ग्राह हुआ था—वह भगवान् के चक्र के स्पर्श से शाप से छूट गया और दिव्य देह धारण कर वासुदेव के चरणों में नमस्कार करता हुआ, उनके गुणों का बखान करने लगा। गजेन्द्र भी नारायण के करस्पर्श के कारण अज्ञान से छूट पीताम्बर और चार भुजा धारण कर भगवान का एक पार्षद हुआ।

गजेन्द्र पूर्वजन्म में इन्द्रद्युम्न नामक द्रविड़ देश का राजा था। द्रविड़ देश में इन्द्रद्युम्न के समान विष्णुभक्त दूसरा और कोई न था। महात्मा इन्द्रद्युम्न जटावल्कल धारण कर कुलाचल पर तपस्या किया करता था। एक बार स्नान कर और मौन धारण कर, वह भगवान का ध्यान कर रहा था। इतने में सुप्रसिद्ध महर्षि अगस्त्य जी शिष्यों के साथ वहाँ पहुँचे। मौनव्रतावलम्बी महाराज इन्द्रद्युम्न ने अगस्त्य जी का यथाविधि पूजन न किया और वह एक ओर चुपचाप बैठा रहा। यह अपमान महर्षि अगस्त्य न सह सके और क्रुद्ध हो उन्होंने राजा को शाप देते हुए कहा —

अगस्त्य इस दुरात्मा की बुद्धि परिमार्जित नहीं हुई है इसीलिये आज इस दुष्टमति ने ब्राह्मण का अपमान किया है। हस्तिजाति की बुद्धि अति मलिन

होती है अतः नराधम हाथी की योनि में जन्म ले
कर अज्ञानान्धकार में डूब जाय।

इस प्रकार शाप देकर अगस्त्य जी शिष्यों सहित वहाँ से चल दिये। काल पाकर इन्द्रद्युम्न को हाथी की योनि मे जन्म लेना पडा। परन्तु भगवतभक्त होने के कारण उनको पूर्वजन्म का स्मरण बना रहा। इसीसे भक्तवत्सल भगवान् ने अपने भक्त का उद्धार किया और उसे पार्षद बना कर, वे गरुड़ पर सवार कर निजधाम वैकुण्ठ को ले गये।

शिक्षा।

(१) भगवान् सदा अपने भक्तों की रक्षा करते है। वे वडे भक्तवत्सल और दीनों के सच्चे बन्धु हैं, चाहे मनुष्य हो चाहे पशु, जो भगवान् की सच्चे मन से आराधना करता है वे उसकी सदा रक्षा करते हैं।

(२) तीन प्रकार के अपचारों से मुमुक्षु-प्राणी का अधः पात होता है। यथा—भगवद्-अपचार, भागवदापचार, और आचार्य-अपचार, अर्थात् भगवान् का अपचार करने से, भगवान् के भक्तों का अपचार करने से और अपने गुरु का अपचार करने से। राजा इन्द्रद्युम्न कठिन तपस्या कर, मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो चुके थे, किन्तु महर्षि अगस्त्य के अपचार से उनका अधःपात हुआ। भागवतों का अपचार भगवान् कभी नहीं सह सकते अतः कल्याण चाहने वालों को सदा उक्त तीनों प्रकार के अपचारों से अपनी रक्षा करनी चाहिये।

२६—राजा बलि और वामन का उपाख्यान।

[भगवान की दया का उदाहरण।]

राजा बलि देवराज इन्द्र के साथ संग्राम करते करते बिलकुल निर्बल हो गये, परन्तु भृगुवंशी ब्राह्मण ऋषियों ने उनको फिर उत्साहित किया। इससे राजा बलि भृगुवंशियों के बड़े कृतज्ञ हुए। भृगुवंशियों ने दैत्यनाथ बलि के विजय का डङ्का त्रिलोक में बजवाने के अभिप्राय से उनका महाभिषेक किया और विश्वजित नामक यज्ञ उनसे आरम्भ करवाया। यज्ञाग्नि में घृत की आहुति के पड़ते ही सुवर्ण का बना हुआ एक रथ हरे रङ्ग के घोड़े, सुवर्ण ही का एक धनुष, दो अक्षय तरकस और दिव्य कवच अग्निकुण्ड से निकले। राजा बलि के पितामह दैत्य कुल गौरव महात्मा प्रह्लाद ने उनको एक पुष्पमाला दी और भगवान शुक्र ने उन्हें एक शङ्ख दिया।

भृगुवंशीय ऋषियों ने इस प्रकार राजा बलि को युद्ध के साज से सज्जित कर उनके कल्याणार्थ मङ्गल पाठ किया। अनन्तर बलि ने परिक्रमा कर उनको प्रणाम किया फिर वे पितामह को प्रणाम कर और उनका दिया हुआ पुष्पहार पहिन दिव्य रथ पर सवार

हुए। उन्होंने दिव्य कवच धारण कर, धनुष, खड्ग और तूणीर को यथा-स्थान धारण किया। जैसे जलती हुई अग्नि घर के ऊपर दहकती है, वैसे ही दैत्यनाथ बलि रथ पर चढ़ कर, शोभायमान हुए। बलि के समान बलवान और सुन्दर सैनिक उनके साथ हो लिये। उन सैनिकों के नेत्र लाल थे और वे बड़े लम्बे तड़ङ्गे ज्वान थे। इस प्रकार की सेना ले कर, राजा बलि ने पहले इन्द्र की अमरावती पर चढ़ाई की।

इन्द्रपुरी में नन्दनादि अनेक उपवन हैं। इन उपवनों में फल फूल युक्त अनेक प्रकार के वृक्ष हैं। वृक्षों पर बैठे पक्षी मधुर स्वर से गान करते हैं, और भौंरे गुन गुना कर मधुपान किया करते हैं। इस स्वर्ग में अनेक भाँति के सरोवर हैं। उनमें हंस कारण्डव आदि अनेक प्रकार के जलचर पक्षी वास करते हैं। मन्दाकिनी ने चारों ओर से इस पुरी को घेर रखा है। इस पुरी के चारों ओर लाल रङ्ग की चार दीवारें हैं। नगर के द्वारों के फाटक सुवर्ण के और समस्त पुरद्वार स्फटिक के हैं। राजमार्ग चौड़े और सदा साफ रहते हैं। विश्वकर्मा की बनाई हुई इस पुरी में बैठने के अनेक स्थान, आँगन, गलियाँ, असंख्य विमान चौराहे, और हीरे, मूँगे के बने चबूतरे शोभायमान हैं।

अमरावती की रहने वाली नारियाँ सदा युवती बनी रहती हैं और सदा सजी सजाई रहती हैं। पवन उनके सुगन्ध युक्त केशों को स्पर्श कर, देवपुरी को सुवासित कर देता है। मणि-मय और सुवर्णमय ध्वजदण्ड और पताका लगे विमानों के अग्रभाग देवपुरी की शोभा को बढ़ाते हैं। सुरबालाएँ गान करती हुई स्वर्ग को पवित्र करती हैं। गन्धर्व और अप्सराओं के गीत वाद्य और मृदङ्ग नगाड़े आदि अनेक बाजों के शब्द

से यह अत्यन्त प्रभाव वाली पुरी अत्यन्त निन्दापहारिणी हो रही है। जो पुण्यात्मा और कपट शून्य हैं, और जिनमें हिंसा शठता या अभिमान नहीं है केवल वे ही इस स्थान में जा सकते हैं।

राजा बलि इसी अमरावती को घेर कर शुक्राचार्य के दिये हुए शङ्ख को बड़े जोर से बजाने लगे। शङ्ख का शब्द सुन कर, देवताओं की स्त्रियाँ बहुत घबड़ाईं। इन्द्र और अन्य देवताओं ने मिल कर बृहस्पति से पूछा —

इन्द्र प्रमुख देवगण—हे गुरो! हमारा सदा का वैरी बलि बहुत सी सेना लेकर आया है और उसने हमारी पुरी को घेर लिया है। जान पड़ता है इस समय हम उससे नहीं जीतेंगे। हममें से कोई भी उसे पराजित न कर सकेगा। सो यह तो बतलाइये कि इसका ऐसा तेज क्योंकर बढ़ गया है? ऐसा जान पड़ रहा है कि मानों यह दैत्य अपने मुख से निश्चय सब को खा जायगा और जीभ से दसों दिशाओं को चाट जायगा। हमारे शत्रु में इतना पराक्रम क्यों आ गया कृपया यह तो बतलाइये।

बृहस्पति—हे देवराज! तुम्हारे शत्रु के इतने बलवान और पराक्रमी होने का रहस्य मुझे मालूम है। भृगुवंश के ब्रह्मवादी ब्राह्मणों ने बलि के बल और वीर्य को बढ़ाया है। भगवान नारायण को छोड़ कर और कोई भी इसे अब पराजित नहीं कर सकता। तुम या तुम्हारे समान अन्य कोई भी अब उसे युद्ध में नहीं हरा सकता। जिस प्रकार काल का कोई सामना नहीं कर सकता उसी प्रकार रण भूमि में

अब उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता। अतएव अब तुम स्वर्ग को छोड़ कर, पृथिवी पर जा कर कहीं छिप रहो। जितने दिनों तक शत्रु का बल क्षय न हो, तब तक तुम इसी प्रकार रहो। भृगुवंशियों की अनुकूलता से इस समय बलि का तेज बढ़ेगा, फिर जब वह ब्राह्मण का अपमान करेगा, तब उसका सारा तेज एक साथ ही नष्ट हो जायगा।

गुरु के मुख से इस प्रकार की बातें सुन, देवता स्वर्ग छोड़ कर इधर उधर भाग गये। तब स्वर्ग का अधिकार अनायास पाकर बलि त्रिलोकी का शासन करने लगा। शिष्य पर कृपा करने वाले भृगुवंशियों ने राजा बलि से सौ अश्वमेध यज्ञ कराये। राजा बलि का यश चारों ओर छा गया और वे सुख स्वच्छन्दता से समय बिताने लगे।

बलि के हाथ से स्वर्ग का राज्य निकालने के लिये, भगवान् को अदिति के गर्भ से जन्म धारण करना पड़ा। महर्षियों ने वामन रूपी ब्राह्मण कुमार के जाति कर्मादि समस्त संस्कार कराये। वामन के उपनयन काल में स्वयं सूर्य्य भगवान् ने उन्हें गायत्री की दीक्षा दी। बटुवेशोचित समस्त सामग्री ग्रहण कर, ब्राह्मण, कुमार वामन, बलि के अश्वमेध यज्ञ को देखने के लिये चले।

यज्ञ, नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकच्छ नामक क्षेत्र में हो रहा था। यज्ञ में लगे हुए पुरोहित और यजमान वामन के तेज से प्रभाहीन होकर विचारने लगे कि सूर्य्य भगवान् यज्ञ देखने को आ रहे हैं अथवा स्वयं अग्निदेव ने कृपा की है। इस प्रकार जब यज्ञीय पुरुष मन ही मन नाना भाँति की कल्पनाएँ कर रहे थे कि इतने में वामन जी महाराज वहाँ जाकर उपस्थित

हुए। वामन का तेज न सह कर सब लोगों ने उठ कर उनका स्वागत किया। अनन्तर बलि ने बैठने को उन्हें आसन दिया। फिर वामन के चरणों को धोकर, बलि ने वह चरणामृत अपने मस्तक पर धारण किया। तदनन्तर बलि ने कहा.—

बलि हे ब्रह्मन्! आपको यहां तक पधारने में कोई कष्ट तो नहीं हुआ? आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आज्ञा दीजिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आज मेरे पितृगण तृप्त हुए। आज मेरा कुल पवित्र हुआ। आज यह यज्ञ साङ्गोपाङ्ग हुआ। क्योंकि आपने मेरे इस यज्ञमण्डप में पदार्पण किया। हे ब्राह्मण कुमार! आपके चरण जल से मेरे सारे पाप नष्ट हुए। हे ब्राह्मण नन्दन! आप जो चाहें सो मुझसे लें। जान पड़ता है आप कुछ मुझसे माँगने के लिये आये हैं। भूमि, सुवर्ण, गृह, मधुर अन्न प्रभृति वस्तु जो चाहे सो माँगिये। मैं आपकी बात कभी नहीं टालूँगा।

वामन हे दैत्य-कुल तिलक! आपने धर्मात्मा पितामह प्रह्लाद ही का तुमने अनुसरण किया है अतएव तुम्हारा यह कुलोचित सत्य किसी भाँति नष्ट नहीं हो सकता। इससे तुम्हारा यश बढ़ेगा तुम्हारे कुल में आज तक ऐसा पुरुष कोई नहीं जन्मा था, जिसने ब्राह्मण को दान देने का वचन देकर दान न दिया हो। हे महाराज! तुम्हारे कुल में ऐसा भी कोई नहीं जन्मा जो दान अथवा संग्राम के समय विमुख हुआ हो। प्रह्लाद अपनी विमल कीर्ति से प्रकाश

करते हुए आकाशमण्डल में चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान होते हैं। तुम्हारे इस वंश में हिरण्याक्ष ने जन्म ले, गदा धारण कर, एवं दिग्विजयी हो अकेले ही पृथिवी पर भ्रमण किया। कहीं भी उसे प्रतिभट न मिला। जिस समय विष्णु ने पृथिवी का उद्धार किया उस समय हिरण्याक्ष उनके समीप गया। नारायण ने अति कष्ट से उसे जीत पाया और उसके जीतने में अपनी बड़ाई भी समझी। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु भी बड़ा पराक्रमी था और उसे मारने के लिये नारायण को नृसिंह रूप धारण करना पड़ा था।

प्रह्लाद के पुत्र तुम्हारे पिता बड़े द्विजवत्सल थे। अतएव देवता द्विजवेश धारण कर आये। यह जान कर भी, प्रार्थना करने पर, आपके पिता ने उन्हे अपनी परमायु देदी। तुम उन्ही दानी पिता के पुत्र हो। अभिलषित दान करने वालों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो। अतएव हे दैत्येन्द्र! मै तुमसे केवल तीन पग भूमि, सो भी अपने पॉव के नाप से मॉगता हूँ। क्योंकि आवश्यकतानुसार वस्तु ग्रहण करने से विद्वान् को पाप का भागी नही बनना पड़ता।

बलि—ब्राह्मण कुमार! यद्यपि तुम बालक हो, तथापि तुम बातें वृद्धों जैसी करते हो, परन्तु तुम बालक हो इसीसे तुममें बुद्धि अभी कम है। क्योंकि तुम अभी अपने स्वार्थ को नही समझते। मैं त्रिलोकी का अकेला स्वामी हूँ। मैं एक समूचा द्वीप तुम्हें दे सकता हूँ। तुम इतने अनसमझ हो कि मुझे सन्तुष्ट

कर के भी केवल तीन पग ही भूमि माँगते हो! जिसने मुझे सन्तुष्ट कर लिया उस दूसरे से याचना करने की फिर आवश्यकता ही क्या है? अतएव जितनी भूमि लेने से तुम्हारा अच्छी प्रकार निर्वाह हो उतनी भूमि तुम लो।

वामन—राजन्! जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं उसकी अभिलाषा त्रिलोकी का साम्राज्य मिलने पर भी पूरी नहीं हो सकती। जो तीन पग भूमि पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता, वह नव वर्ष-युक्त द्वीप पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। एक द्वीप पाकर वह सातों द्वीपों के पाने की अभिलाषा करेगा। सुना है वेण और गय सातों द्वीपों का भोग कर भी तृप्त नहीं हुए थे। इच्छानुसार प्राप्त वस्तु का भोग कर, पुरुष सन्तुष्ट होने पर सुखी होता है। पण्डित कहा करते हैं असन्तोषी सदा दुःखी और सन्तोषी सदा सुखी रहता है। अतएव हे वदान्यश्रेष्ठ! मैं आपसे केवल तीन ही पग भूमि माँगता हूँ। मेरा काम इतनी ही पृथ्वी से निकल जायगा।

यह सुन राजा बलि ने हँस कर कहा—"यह लीजिये" और पृथिवी दान करने के लिये हाथ में जल लिया।

सर्वज्ञ शुक्राचार्य वामन के आन्तरिक अभिप्राय को जानते थे अतएव शिष्य बलि को पृथिवी का दान करने के लिए तैयार देख कर, बोले:—

शुक्राचार्य—हे विरोचन कुमार! वामन रूपधारी ये साक्षात् विष्णु भगवान हैं। विष्णु ने देवताओं का

कार्य बनाने के लिये कश्यप के औरस से अदिति के गर्भ मे जन्म लिया है। तुमने बिना सोचे समझे इन्हें दान देना क्यो स्वीकार कर लिया? मुझे तो तुम्हारी यह बात अच्छी न लगी। क्योकि वामन रूपी ये विष्णु, तुम्हारा अधिकार ऐश्वर्य, तेज और श्री हरण कर, इन्द्र को देदेंगे। विश्व ही इनका शरीर है। यह तीन पग में त्रिलोक को नाँप लेंगे।

रे मूढ! विष्णु को सर्वस्व देकर तू अपने पास क्या रखेगा? ये एक पग से पृथिवी और दूसरे से जब आकाश नाप लेंगे, तब तीसरे पग से तू क्या नपावेगा? तूने भूमिदान की प्रतिज्ञा तो करली है, पर उस समय तू क्या देगा? अन्त में परिणाम यह होगा कि वचनवद्ध होकर न दे सकने के कारण तू नरक में पडेगा। अतः अब भी सम्हल, क्योंकि स्त्रियो से परिहास मे, वर के गुण-कीर्तन में, जीविका करने के निमित्त, सङ्कट पडने पर गो ब्राह्मण के हितार्थ मिथ्या भी बोलने से निन्दा नहीं होती।

बलि, कुलाचार्य शुक्र की ये बाते सुन, कुछ क्षणों के लिये चुप हो गये। फिर कुछ सोच विचार कर कहने लगे:—

बलि—हे गुरुदेव! आपका कहना ठीक है। जिसके कार्य के करने से अर्थ काम यश वा जीवनोपाय में विघ्न न पडे—वही गृहस्थ का धर्म है। पर मै प्रह्लाद का पौत्र हूँ। मैने दूँगा" यह प्रतिज्ञा कर ली है। लोभ में फँस साधारण ठग की तरह में किस प्रकार अपने उसी मुँह

कर के भी केवल तीन पग ही भूमि माँगते हो! जिसने मुझे सन्तुष्ट कर लिया, उसे दूसरे से याचना करने की फिर आवश्यकता ही क्या है? अतएव जितनी भूमि लेने से तुम्हारा अच्छी प्रकार निर्वाह हो, उतनी भूमि तुम लो।

वामन—राजन्! जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं उसकी अभिलाषा त्रिलोकी का साम्राज्य मिलने पर भी पूरी नहीं हो सकती। जो तीन पग भूमि पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता, वह नव वर्ष-युक्त द्वीप पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। एक द्वीप पाकर वह सातों द्वीपों के पाने की अभिलाषा करेगा। सुना है वेण और मद सात द्वीपों को भोग कर भी तृप्त नहीं हुए थे। इच्छानुसार प्राप्त वस्तु को भोग कर, पुरुष सन्तुष्ट होने पर सुखी होता है। पण्डित कहा करते हैं असन्तोषी सदा दुखी और सन्तोषी सदा सुखी रहता है। अतएव हे वदान्यश्रेष्ठ! मैं आपसे केवल तीन ही पग भूमि माँगता हूँ। मेरा काम इतनी ही पृथ्वी से निकल जायगा।

यह सुन राजा बलि ने हँस कर कहा— यह लीजिये और पृथिवी दान करने के लिये हाथ में जल लिया।

सर्वज्ञ शुक्राचार्य वामन के आन्तरिक अभिप्राय को जानते थे अतएव शिष्य बलि को पृथिवी का दान करने के लिये तयार देख कर, बोले:—

शुक्राचार्य—हे विरोचन कुमार वामन रूपधारी यह साक्षात् विष्णु भगवान् हैं। विष्णु ने देवताओं का

कार्य बनाने के लिये कश्यप के औरस से अदिति के गर्भ मे जन्म लिया है। तुमने बिना सोचे समझे इन्हे दान देना क्यो स्वीकार कर लिया? मुझे तो तुम्हारी यह बात अच्छी न लगी। क्योकि वामन रूपी ये विष्णु, तुम्हारा अधिकार ऐश्वर्य, तेज और श्री हरण कर इन्द्र को दे देंगे · विश्व ही इनका शरीर है। यह तीन पग मे त्रिलोक को नाप लेंगे।

रे मूढ़! विष्णु को सर्वस्व देकर तू अपने पास क्या रखेगा? ये एक पग से पृथिवी और दूसरे से जब आकाश नाप लेंगे, तब तीसरे पग से तू क्या नपावेगा? तूने भूमिदान की प्रतिज्ञा तो करली है, पर उस समय तू क्या देगा? अन्त मे परिणाम यह होगा कि वचनबद्ध होकर न दे सकने के कारण तू नरक में पड़ेगा। अतः अब भी सम्हल, क्योंकि स्त्रियो से परिहास में, वर के गुण-कीर्तन में, जीविका करने के निमित्त, सङ्कट पड़ने पर गो ब्राह्मण के हितार्थ मिथ्या भी बोलने से निन्दा नही होती।

बलि, कुलाचार्य शुक्र की ये बातें सुन, कुछ क्षणों के लिये चुप हो गये। फिर कुछ सोच विचार कर कहने लगे:—

बलि—हे गुरुदेव! आपका कहना ठीक है। जिसके कार्य के करने से अर्थ काम यश वा जीवनोपाय में विघ्न न पड़े—वही गृहस्थ का धर्म है। पर मै प्रह्लाद का पौत्र हूँ। मैने दूँगा" यह प्रतिज्ञा कर ली है। लोभ में फँस साधारण ठग की तरह मैं किस प्रकार अपने उसी मुँह

से कहूँ-"न दूँगा। ' मिथ्या के समान दूसरा पाप नहीं। पृथिवी ने कहा था कि मिथ्यावादी को छोड़ मैं सब का भार सह सकती हूँ। ब्राह्मण को ठगने से मैं जितना ठगता हूँ, उतना नरक, दारिद्र्य, स्थान-भ्रष्ट या मृत्यु से भी मुझे भय नहीं है। मरने पर तो मुझे एक न एक दिन ये सारी वस्तुएं छोड़नी ही पड़ेंगी—फिर मैं उन्हें दान कर अपनी बात ही क्यों न रखलूँ? दधीचि और शिवि ने 'दूँगा' कह कर, अपने प्राण तक दे डाले थे। अतएव पृथिवी का दान प्राणदान से बढ़ कर नहीं है। जो दैत्य युद्ध में विजयी हो चुके है, यद्यपि अब वे नहीं रहे, तथापि उनका यश अब तक जीवित है। हे विप्रवर्य! ऐसे वीर तो बहुत है जो प्रतिभट के साथ युद्ध करने में अपने प्राण गंवादें, पर ऐसे लोग कम हैं, जो याचक को श्रद्धापूर्वक दें।

हे गुरुदेव! यदि यह ब्राह्मण-कुमार सचमुच वे ही विष्णु हैं, जिनकी उपासना तुम वेदमंत्रों से कर रहे हो, तो चाहे यह मुझे वर देने आये हों, चाहे शत्रु बन कर आये हों, मैं इन्हें तीन पग पृथिवी अवश्य दूँगा।

बलि जब शुक्राचार्य के कथनानुसार काम करने को प्रस्तुत न हुआ, तब उन्होंने क्रुद्ध होकर बलि को शाप दिया और कहा --

शुक्राचार्य--रे मूढ़! तू अत्यन्त अज्ञानी है और अपने को पण्डित समझता है। मैंने तुझसे कुछ नहीं कहा

इसीसे तू गर्व मे चूर है। तूने मेरी बात नहीं मानी इस लिये तू शीघ्र ही श्रीभ्रष्ट होगा।

गुरु के ऐसे उग्र शाप को सुन कर भी राजा बलि सत्य से न डिगे। उन्होने संकल्प करके वामन को पृथिवी का दान दिया। उनकी रानी ने वामन जी के चरण धोने को जल लाकर रखा, तब बलि ने उनके चरणों को धोकर उस पवित्र जल को अपने मस्तक पर रखा।

इतने में विष्णु का वह वामन-रूप बढ़ने लगा। उनका विशाल रूप देख, सब लोग भयभीत हुए। विष्णु ने एक पग से पृथिवी, शरीर से आकाश और चारों भुजाओं से दिक् मण्डल को घेर लिया। अनन्तर दूसरे चरण से जब वे स्वर्ग नाँपने लगे, तब उनके चरण भर स्वर्ग भी न निकला। वह चरण सत्यलोक तक नाँपता चला गया। तब ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने प्रसन्न होकर अपने उस विशाल रूप को समेटा और वे पूर्ववत् वामन-रूप-धारी ब्राह्मण-कुमार बन गये। यह चरित्र बलि के साथियों से न देखा गया। बलि के मना करने पर भी उन लोगों ने वामन के ऊपर आक्रमण किया, तब विष्णु पारषदों ने दैत्यों की सेना का संहार करना आरम्भ किया। यह देख बलि ने अपने सैनिकों को सम्बोधन कर कहा

बलि —हे वीरो! मेरा कहना मानो। युद्ध मत करो। अलग रहो। प्रथम जो भगवान् हमारे अनुकूल थे, वे ही इस समय हमारे प्रतिकूल हैं। बल, मंत्री, बुद्धि, दुर्ग, मंत्र, औषधि, या सामादि उपायों द्वारा मनुष्य काल को नही जीत सकता।

यदि भाग्य अनुकूल हुआ, तो हम पुनः इसे जीत लेंगे ।

यह सुन बलि के साथी सैनिक रसातल में चले गये और भगवान् विष्णु का अभिप्राय समझ गरुड़ ने बलि को यज्ञीय सोमलता के पाश से बाँधा, उस समय श्रीभ्रष्ट, किन्तु स्थिर-प्रतिज्ञ, उदारचेता बलि से भगवान् ने कहा:—

वामन—हे असुर ! तुमने मुझे तीन पग पृथिवी दी थी। सो मैंने दो पग से त्रिलोकी को नाप लिया। अब तीसरे पद की भूमि बतलाओ। तुमने अङ्गीकार किये हुए दान को न देकर नरक में गिरने का काम किया है। अतः गुरु की आज्ञानुसार तुम नरक में गिरो।

यद्यपि भगवान् ने बलि को इस प्रकार निग्रहीत और सत्य से भ्रष्ट किया, तथापि बलि का हृदय भग्न न हुआ, उसने विचार कर कहा:—

बलि—हे पवित्रकीर्ते ! हे देवश्रेष्ठ ! मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे क्या आप मिथ्या समझते हैं ? मैंने जो कहा उसे मैं अवश्य पूरा करूंगा। आप तीसरे पग से मेरे मस्तक को नापिये। सत्य से भ्रष्ट होने का जितना मुझे भय है, उतना मुझे नरक-यातना पदच्युति पाशबन्धनदुस्तरदुःख अर्थकष्ट या अपने निग्रह का डर नहीं है। आप दिखाने को भले ही असुरकुल के परम शत्रु बनें, पर आप हमारे परम गुरु हैं। हम गर्व से अत्यन्त अन्धे हो गये थे, अब आपने नीचे गिरा कर, हमारे नेत्र खोल दिये। आपका आश्रय ग्रहण कर, फिर उससे अलग होना नहीं पड़ता। यह सत्य है कि आप मेरे शत्रु हैं परन्त

भाग्य ने हठात् मेरे सौभाग्य को हरण कर के मुझ को आप तक पहुँचा दिया।

बलि इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने मे प्रह्लाद जी वहाँ पहुँच गये। बलि ने अपने पितामह की सौम्य मूर्त्ति देखी, किन्तु पाशवद्ध होने के कारण वे उनका सत्कार न कर सके, केवल सीस झुका कर प्रणाम किया। उनके दोनो नेत्रों मे जल भर आया। इसीसे नीचा सिर कर बलि चुपचाप बैठे रहे। उधर प्रह्लाद ने पौत्र की यह दशा देख, नेत्रों मे आँसू भर कर, नारायण को प्रणाम किया और बाले —

प्रह्लाद—भगवन्! आपने इस बालक को समृद्ध सम्पन्न इन्द्र पद दे दिया था—उसके द्वारा इसकी वैसी ही शोभा हुई थी। इस समय आपही ने इसे श्रीभ्रष्ट कर के इस पर उचित अनुग्रह दिखाया। लक्ष्मीही आपको भुला देती हैं। श्री से बड़े बडे जितेन्द्रिय विद्वान भी मुग्ध हो जाते हैं। लक्ष्मी के पास रहते भली भाँति आत्म-तत्व को कौन जान सकता है? आपने इस पर बडी कृपा की आपको नमस्कार है। आप जगदीश्वर नारायण सब लोगों के साक्षी स्वरूप हैं।

अपने पति को बँधा देख बलि की स्त्री पर न रहा गया। उसने हाथ जोड़ कर भगवान् से कहा.—

बलि-पत्नी—हे परमात्मन्! आपने क्रीडा करने के निमित्त, इस संसार की रचना की है। आपको छोड जो दूसरे को इसका कर्त्ता समझते हैं वे मूढ़ हैं। आप ही इस सारे विश्व ब्रह्माण्ड के कर्त्ता, पालक

और संहारकारी है। मैं स्वतंत्र हूँ—यही वस्तु पुरुष को आपने दान कर दी है, अतएव दूसरा कोई आपको क्या दान दे सकता है?

भगवान् ने ब्रह्मा से कहा —

भगवान् हे ब्रह्मन्! मैं जिस पर अनुग्रह करता हूँ, उसके धन को हर लेता हूँ। क्योंकि पुरुष धन के गर्व से गर्वित हो कर, लोगों की और मेरी अवज्ञा करता है। जीवात्मा अपने कर्मों से पराधीन हो, अनेक योनियों में भ्रमण कर के, फिर जिस समय वह नर योनि में आता है उस समय यदि जन्म, कर्म, यौवन, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, या धनादि के लिये वह गर्वित न हो, तो समझ लेना चाहिये कि उस पर मेरी पूर्ण कृपा है। अभिमान ही पुरुषों के अमङ्गलों की जड़ है। मेरे सेवक इसके वश में नहीं होते।

इस बलि ने अजया माया को जीत लिया है। सब प्रकार से तिरस्कृत और गुरु द्वारा अभिशप्त हो कर, भी इसने सत्य को नहीं छोड़ा। मैंने छल से इसे धर्मोपदेश दिया है। यह सावर्णि मन्वन्तर में इन्द्र होगा। जब तक वह मन्वन्तर न आवे, तब तक यह सुतल लोक में वास करे।

ब्रह्मा से यह कह कर भगवान् ने बलि का सम्बोधन कर के कहा —

भगवान्—हे दान वीर-शिरोमणे! तुम अपनी जाति के लोगों के साथ, उस सुतल लोक में जाओ, जहाँ यमने

के लिये देवता भी लालयित रहते हैं। तुम्हारा मङ्गल हो। और की बात तो दूर रहे, स्वयं लोक-पाल भी तुम्हे पराजित नही कर सकेंगे। जो दैत्य तुम्हारा कहना न मानें गे, मेरा चक्र उनका सहार करेगा। हे वीर ! तुम मुझको उस स्थान में सदा देखोगे।

बलि—भगवन् ! प्रणाम करने के लिये जो उद्यम किया जाता है, केवल वह उद्यम ही आपके प्रपन्न भक्तों का प्रयोजन सिद्ध करता है। बडे बड़े लोकपालों पर आपने जो अनुग्रह नही किया, वही आपने इस एक निकृष्ट असुर पर किया है। यह आपकी भक्त-वत्स-लता है।

यह कह कर बलि सुतललोक में चले गये। इन्द्र को पुन स्वर्ग का राज्य प्राप्त हुआ।

भगवान् के कहने पर प्रह्लाद भी अपने पौत्र के साथ जाकर रहने लगे। शुक्राचार्य भी अपने शिष्य के पास चले गये।

शिक्षा।

इस उपाख्यान से यह शिक्षा मिलती है कि जब भगवान् का क्रोध भी मङ्गलजनक है तब उनकी प्रसन्नता का तो कहना ही क्या है ! भगवान् को अनेक प्रकार के रूप धारण करने अथवा अवतार लेने की स्वयं कुछ भी आवश्यकता नही है किन्तु भक्तों को दु ख भोगते देख उन पर नही रहा जाता और उन्हें अवतार लेना ही पडता है।

भगवान् बलि को बाँधने गये थे, किन्तु बलि की भक्ति एवं सत्यनिष्ठा देख कर, उन्हें बलि के निकट स्वयं बँधना पड़ा।

उन्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ी—"सुतल मे, मैं तेरे साथ सदा रहूँगा।"

यद्यपि शुक्राचार्य ने परिहास में गो ब्राह्मण के प्राणों के ऊपर सङ्कट पड़ने पर, तथा कई अवसर विशेष में असत्य बोलने की विधि बतलाई है, तथापि असत्य असत्य ही है। जैसे राजा बलि ने अपने आचार्य के उस कथन की अवहेला की जो उन्हें बुरी ओर खींच कर ले जाने वाला था, वैसे ही मनुष्यों को उचित है कि वे कभी किसी भी मनुष्य के कहने से बुरे मार्ग के पथिक न बनें। क्योंकि सत्य से बढ़ कर दूसरा तप नहीं है।

"अद्भुत वामन बनि बलि छलि कै
तीन पेंड जग नाप्यो॥
दरसन मज्जन पान समय अब
निज नख जल थिर थाप्यो॥
जय जय जय जगदीश हरे!
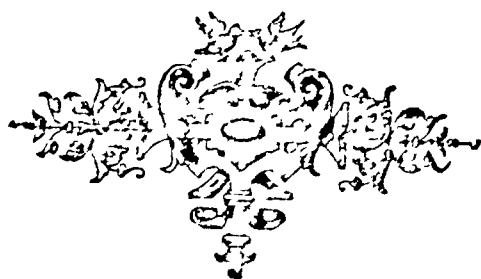
२७- मत्स्यावतार का उपाख्यान ।

[ज्ञान की रक्षा का उदाहरण ।]

कहा जा चुका है कि भगवान् गौ विप्र, देवता, साधु धर्म और अर्थ की रक्षा करने के निमित्त ही देह धारण करते हैं। भगवान् वायु के समान समस्त ऊँच नीच प्राणियों में भ्रमण करते हैं, किन्तु स्वयं ऊँच नीच नहीं होते, क्योंकि वे गुणयुक्त नहीं हैं।

कल्प के अन्त में जब ब्रह्मा सोते हैं, तब प्रलय होती है। उस समय सारे लोक जल में डूब जाते हैं। कालवश विधाता के निद्रित हो जाने पर, सब वेद उनके मुख से निकल पड़े, हयग्रीव ने उन सब को हर लिया, यह जान भगवान् को मत्स्य-रूप धारण करना पड़ा।

उस समय सत्यव्रत नामक एक भगवद्भक्त जल में बैठे हुए तपस्या कर रहे थे। एक दिन जब वे कृतमाला नदी में जल से तर्पण कर रहे थे, तब उनकी अंजली में एक मछली आयी। द्रविडेश्वर सत्यव्रत ने अंजली में आयी हुई मछली को जल सहित नदी में डाल दिया तब उस मछली ने राजा से कहा :—

मछली—हे दीनवत्सल! मैं दुर्बल हूँ, मैं अपने संहारक मगर आदि जन्तुओं से डरी हुई हूँ। इसीसे मैंने

आपका आश्रय ग्रहण किया था। फिर आपने मुझे क्यों नदी में फेंक दिया ?

असल में सत्यव्रत पर अनुग्रह करने के अर्थ भगवान् ने मत्स्य शरीर धारण किया था, किन्तु सत्यव्रत को यह बात अविदित थी। सत्यव्रत ने उस मछली की रक्षा करनी चाही। अतः वे उसे कलसे में डाल कर अपने आश्रम में ले आये।

रात भर में वह मछली इतनी बड़ी हो गयी कि कलसे में उसके रहने योग्य स्थान न रहा, तब राजा ने उसे कलसे से निकाल कर मटके में रखा। उसका शरीर और भी बढ़ा तब राजा ने उसे अन्य बड़े स्थान में रखने की व्यवस्था की और उसे एक सरोवर में डाल दिया। कुछ ही दिनों बाद वह मछली उस सरोवर में बढ़ कर एक बड़ा भारी मत्स्य बन गयी। सत्यव्रत ने उसे फिर उससे भी बड़े एक सरोवर में रखा पर जब वह कई बड़े बड़े सरोवर के जलों में भी न अटी, तब राजा ने उसे लेजाकर समुद्र में रखा। उस समय उसने सत्यव्रत से कहा :—

मछली-वीर ! इसमें तो मुझसे अधिक बली मत्स्य मुझे खा डालेंगे अतएव इस सागर के जल में मुझे मत डालो।

सत्यव्रत-आप कौन हैं जो मुझे मत्स्य रूप से मोहित करते हैं ? मैंने तो ऐसा पराक्रमी जलचर न कभी देखा और न सुना।

मत्स्य—हे अरिन्दम ! आज से सात दिन के भीतर यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड प्रलयसागर के जल में डूब जायगा। जिस समय समुद्र का जल बढ़ने लगे,

उस समय एक बड़ी भारी नौका आपके पास आवेगी। आप समस्त औषधियाँ, छोटे और बड़े बीज तथा समस्त प्राणियों को ले कर सप्तर्षियों समेत, नौका पर बैठ, ऋषियों के ब्रह्मतेज से इस सागर मे भ्रमण करना। जब प्रचण्ड पवन इस नौका को हिलावेगा, तब मैं स्वयं उपस्थित होऊँगा। तुम महासर्प द्वारा उस नौका को मेरे सींग से जकड़ देना। जब तक ब्रह्मा न जागेंगे, तब तक मैं नौका सहित जल में घूमता रहूँगा।

यह कह वह मत्स्य जल में विला गया। राजा प्रलयकाल की प्रतीक्षा करने लगा। उसने पूर्व की ओर कुशो के अग्रभाग कर उन्हें बिछाए और पूर्वोत्तर मुख बैठ मत्स्य रूपी नारायण के चरणों का ध्यान करने लगा।

इतने में धीरे धीरे समुद्र का जल उमड़ने लगा। साथ ही सत्यव्रत ने देखा कि एक बड़ी भारी नौका उनकी ओर बढ़ी चली आ रही है। मत्स्य के कथनानुसार राजा समस्त वृक्षों के बीज तथा प्राणियों को ले, सप्तर्षियों सहित उस नाव पर सवार हो गया। उस समय ऋषियों ने सत्यव्रत से कहा—"राजन्! केशव का ध्यान करो, वे ही हमारा मङ्गल करेंगे।

जब राजा केशव का ध्यान करने लगे, तब एक बड़ा लम्बा चौड़ा सुनहले रङ्ग का सींगदार मत्स्य दिखलाई पड़ा। राजा ने सन्तुष्ट होकर इस मच्छ के सींग में सर्प की रज्जु से नाँव को बाँध दिया और मधुसूदन का स्तव आरम्भ किया।

राजा ने भगवान् को स्तुति करते हुए कहा—"अविद्या से जिनका ज्ञान ढक गया है, अतएव अविद्या मूल संसाराश्रम में जो लोग क्लेश पा रहे हैं, वे लोग इस संसार में जिनके अनुग्रह

से पुनर्वार अपने कर्म बन्धन को मोचन कर, जिनकी सेवा करने को, सुख की इच्छा छोडने में सामर्थ होते है, वे ही मुक्तिदायी आप परम गुरु हो कर, हमारे हृदय की गॉठ को खोल दें। जिस प्रकार चाँदी अग्नि में तपाने से निर्मल हो जाती है और अपने यथार्थ रङ्ग पर आजाती है, वैसे ही पुरुष जिसकी सेवा के द्वारा आत्मा के मलिन खरूप अज्ञान को छोड़ अपना रूप पाता है। वे ही ईश्वर आप हमारे गुरु है।

अन्यान्य देवता और गुरुजन मिल कर, जिनके प्रसाद के दस हज़ारवें हिस्से का लेश मात्र भी भाग नहीं दे सकते, उन्हीं ईश्वर के हम शरणागत होते है।

जैसे अन्धा अन्धे का पथ-प्रदर्शक नही होसकता, वैसे ही अज्ञानी अज्ञानी का गुरु हो तो कैसे काम चल सकता है, पर आप ज्ञानरूपी सूर्य्य के प्रकाश के समान स्वय प्रकाशमान है, अतएव आप समस्त इन्द्रियों के प्रकाशक है। हम लोग आत्म-गति जानने को उत्सुक है अत. आपको गुरु बनाया है।

मनुष्य मनुष्य को जिस गति का उपदेश देता है, वह गति अति दूषित है, शिष्य उसके द्वारा सदा अन्धकार ही मे गिरता है, परन्तु आप अविनाशी जिस ज्ञान का उपदेश देते है मनुष्य उस ज्ञान द्वारा निश्चय ही आपके धाम मे पहुंचता है।

आप सब लोगों के मित्र प्यारे ईश्वर आत्मा, गुरु ज्ञान और अभीप्सित सिद्धिरूप से हृदय में वास करते है, परन्तु लोगों की बुद्धि दूसरी ओर दौड़ती हुई देखी जाती है। विषया-भिलाषा उनके हृदय में जड़ पकड़ गयी है। इसीसे वे आपको नहीं जान सकते।

मैंने ज्ञान की प्राप्ति के लिये आपकी शरण ली है। हे भग-वन! परमार्थ प्रकाशक वाक्यों द्वारा हृदय में उत्पन्न हुए

अहङ्कारादि को छेदन कीजिये। साथ ही यह भी बतला दीजिये कि हमारा पद कौनसा है ?

राजा के यह कहने पर भगवान् ने समुद्र के जल में मच्छ-रूप से विहार करके सत्यव्रत को तत्व का उपदेश दिया। राजा ने महर्षियों सहित नौका पर बैठ कर मत्स्यरूपी भगवान् के मुख से संशय-हीन आत्मतत्व और सनातन वेद को सुना। प्रलय का अवसान हुआ। भगवान् ने हयग्रीव को मारा, राजा सत्यव्रत विष्णु के प्रसाद से वैवस्वत नामक मनु हुए।

शिक्षा।

इस उपख्यान के पढने से हमको सब से बढ़ कर यह शिक्षा मिलती है कि ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस ससार में दूसरी नही है। वेद अथवा ईश्वरी-ज्ञान ऐसा अमूल्य है कि उसका नाश अथवा कुपात्र में उसकी स्थिति भगवान् नही देख सकते। ज्ञान की रक्षा करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। उसकी रक्षा के लिये वे समय, देश, पात्र के अनुरूप वेष धारण कर लेते हैं। अत भगवद्भक्तों का कर्त्तव्य है कि वे उस पवित्र ज्ञान की, प्राण से बढ़ कर रक्षा करें। आइये पाठक मत्स्यरूपी भगवान् का हम लोग गुणगान करें:—

"प्रलय भयानक जलनिधि,
जलधंसि प्रभु तुम वेद उधारे।
करि पतवार पुच्छ निज विहरे,
मीन सरीरहि धारे॥
जय जय जय जगदीश हरे!"

२८—जय विजय का उपाख्यान।

[ब्राह्मणों की अवज्ञा का फल।]

जिस वैकुण्ठ में देवादिदेव भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वह तीनों लोकों की रचना से निराला और सब के द्वारा नमस्कार किये जाने योग्य है। वैकुण्ठ अलौकिक है, वहाँ प्रधान प्रधान देवता अपने दिव्य विमानों सहित शोभित हैं। योगी सनकादि ने अष्टाङ्ग-योग-बल से, उसी वैकुण्ठ में जा कर, अपार आनन्द अनुभव किया, किन्तु वे लोग निष्काम थे। अतः लोभ-जनक अलौकिक वस्तुओं की ओर न देख कर, उन्होंने श्रीहरि के दर्शन की इच्छा से एक एक कर के छः ड्योढ़ियों को नाँघा। अनन्तर सातवें प्राकार में पहुँच कर उन्होंने देखा कि दो द्वार-रक्षक देवता हाथ में गदा लिये खड़े हैं।

उन देवों के दोनों कानों में बहुमूल्य कुण्डल लटक रहे थे। उनकी चारों भुजाओं के बीच अपूर्व वनमाला विभूषित थी। भौंरे उसकी मधुर गन्धि से उस पर टूटे पड़ते थे। पर उन दोनों के मुख नासिका और भ्रुकुटियों के देखने से उनकी मुखश्री मलिन

सी प्रतीत होती थी। जब वे ऋषि भीतर जाने लगे, तब उन द्वारपालो ने उनकी ओर देखा। पर वे मुनि जैसे छः ड्योढ़ियाँ, विना किसी से पूँछेगछे नाँघ आये थे, वैसे ही सातवीं भी नाँघने लगे। वे ब्रह्मर्षि समदर्शी थे, इसीसे सवत्र निर्भय विचरते थे। द्वारपालों ने देखा कि आत्मतत्वज्ञ नङ्गे बूढ़े और देखने मे पाँच वर्ष वाले बालक की भाँति चार ऋषि द्वार के भीतर जा रहे हैं। द्वारपाल अपनी अवज्ञा को न सह सके और बेत से उनको मार कर भीतर जाने से रोका। पर वे लोग इस प्रकार रोके जाने के योग्य न थे।

उन अपमानित ऋषियों ने सोचा कि हरि के इन दोनो द्वारपालो ने हमें अपमानपूर्वक भीतर जाने से रोका और हरिदर्शन में विघ्न डाला, तिस पर भी अन्य देवता कुछ न बोले और खडे खड़े हमारी ओर देखते रहे। यह विचार कर वे ऋषि बड़े कुपित हुए और कहने लगे --

सनकादि ब्रह्मर्षि—जो लोग नारायण को सन्तुष्ट करके, इस वैकुण्ठधाम में बसते हैं, वे सब प्राणियों में समदर्शी होते हैं, पर तुम लोगो में इसके विपरीत भाव क्यों दीख पडता है? तुम लोग कौन हो? श्री हरि का तो अत्यन्त शान्त स्वभाव है, इसीसे उनका किसी से विरोध नहीं। तुम लोग स्वयं कपटी हो, इसीसे हमे भी कपटी समझ कर डरते हो। भगवान् विष्णु सर्वेश्वर हैं, तो भी उनके सम्बन्ध में तुमको डर उत्पन्न हुआ। सचमुच तुम दोनों बड़े मूर्ख हो। तिस पर भी तुम श्री हरि के द्वारपाल हो। इस लिये हम तुम्हारे मङ्गल के लिये तुम्हें यह शाप देते हैं कि जिस लोक में काम, क्रोध, लोभ,

ये तीनों एकत्र विचरते हैं—तुम दोनों उसी नरक तुल्य पाप लोक में जाओ। क्योंकि तुममें भेदज्ञान है। तुममें अभी तक ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है।

वे दोनों द्वारपाल यह सुन बहुत घबड़ाये और अपनी भूल को स्वीकार कर, ब्रह्मर्षियों के चरण पकड़ कर कहने लगे —

जय विजय—पापियों को जैसा दण्ड देना चाहिये, आपने हमें वैसा ही दण्ड दिया है इस दण्ड से हमारा पाप छूटेगा। हम मानों नीचे ही को गिरे जा रहे हैं, पर महामाया से मोहित होकर श्री हरि को भूले जाते हैं। आप आशीर्वाद दें कि वह महामोह अब हमें मोहित न कर सके।

द्वारपाल ब्रह्मर्षियों के चरणों को पकड़ कर इस प्रकार गिड़-गिड़ा रहे थे। उसी समय साधुओं को अभीष्ट फल देनेवाले श्री हरि उनका अपराध जान कर लक्ष्मी-सहित उसी स्थान पर आ पहुँचे। ब्रह्मर्षि भगवान् के दर्शन कर भक्ति भाव से उनको प्रणाम कर कहने लगे —

ब्रह्मर्षि—हे अनन्त ! आप सब के हृदय में समान रूप से अवस्थित हैं, तथापि जो दुरात्मा, पापगर्वी एवं नास्तिक हैं, वे अपने हृदय में आपका दर्शन नहीं कर सकते।

हे भगवन् ! हमने जान लिया है कि आप परम-तत्व हैं आप विशुद्ध सत्यमूर्त्ति धारण करके इसी प्रकार भक्तों की महिमा बढ़ाते हैं। हे विश्वम्भर ! जो भक्त आपके चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करते हैं और जो लोग सुकीर्त्तनीय पवित्र यश में

युक्त आपके गुणानुवाद का आस्वादन कर चुके हैं, आप प्रसन्न हो कर उनको यदि मुक्ति दें, तो भी उनके निकट वह तुच्छ है। इन्द्रत्व तो उनके लिये वस्तु ही क्या है?

हे जगदीश्वर! हमारा मन रूपी भौंरा आपके चरण रूपी मकरन्द का आस्वादन करने में समर्थ हो। यदि हमारे वाक्य, तुलसी दल की भाँति सदा आपके चरणों की शोभा बढ़ावें, यदि हमारे कान गुणानुवाद से परिपूर्ण हो जाय, तो इस अपराध के कारण हमे भले ही नरक में भी जाना पड़े, तो भी हमें उसकी अनिच्छा नहीं है। आपका यह रूप देख कर हमारे नेत्र सफल हुए। इस लिये हम आपको नमस्कार करते हैं।

श्रीमन्नारायण—हे मुनिवृन्द! जयविजय नामक इन मेरे दोनों द्वारपालों ने मेरी आज्ञा को उल्लङ्घन कर आपका बड़ा अपमान किया है। आप लोग मेरे भक्त हैं। आपने इन्हें जो दण्ड दिया है वह उचित ही है। मैं इससे सन्तुष्ट हूँ। साथही मैं आपसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि ब्राह्मण ही हमारे देवता हैं। मेरे सेवकों ने आपका अपमान नहीं किया, किन्तु मैं उसे निजकृत मानता हूँ। नौकर के किये हुए अपराध का दोष मालिक ही के मत्थे मढ़ा जाता है। जिस मेरे निर्मल यश में डूबने से चाण्डाल से लगा, ब्राह्मण पर्य्यन्त—समस्त जगत पवित्र होता है वह यश मुझे आप ही लोगों से मिला है। अत दूसरे की बात तो दूर रहे, मेरे बाहुस्वरूप लोकपाल

५

भी यदि आप लोगों के विरोधी हों, तो मैं उन्हें भी नष्ट करता हूँ । ब्राह्मणों की सेवा करने ही से मेरी पदधूलि पवित्र गिनी गई है । जो पुरुष ब्राह्मणों से विरोध करता है, उसे कौन न मारेगा ?

श्रीमन्नारायण ब्राह्मणों की इतनी महिमा पर भी सन्तुष्ट न हुए । वे फिर कहने लगे :—

श्रीमन्नारायण—हे विप्रवर्य ! जो ब्राह्मण कर्मफल मुझे अर्पण कर सन्तुष्ट हुए हैं उनके घृत दुग्ध युक्त पायसान्न भोजन करने पर मेरी जैसी तृप्ति होती है, यज्ञ में अग्नि मुख द्वारा घृतादि भक्षण करके भी वैसी नहीं होती । अतः जो ब्राह्मणों का अपमान करेगा, वह अवश्य ही मारा जायगा । ब्राह्मण, और दुग्धवती गौ मेरे निवास स्थान हैं । जो लोग इन्हें अन्य प्रकार समझते हैं, उनकी दृष्टि पाप से दूषित है । मेरे अधिकारस्थ दण्ड विधान-कर्त्ता यम के गिद्ध और सर्प तुल्य क्रुद्ध स्वभाव वाले दूत उन पापियों को क्षत विक्षत करते हैं । ब्राह्मणों के कुवाच्यों को सुन कर भी जो लोग मेरी तरह उन्हें हँस कर टाल देते हैं वे मुझे प्रसन्न किया करते हैं । मेरे इन दोनों भृत्यों ने मेरा अभिप्राय न जान कर, आप लोगों का अपमान किया है । इस लिये इसका उपयुक्त प्रायश्चित्त कर, ये फिर मेरे समीप आवेंगे । यहाँ से इन लोगों को शीघ्र निर्वासित कर, आप लोग मुझ पर, कृपा करें ।

ब्रह्मर्षि—आप ब्राह्मणों के हितैषी हैं इसलिये वे आपके परम देव स्वरूप हैं किन्तु ब्राह्मण देवताओं के देवता

होने पर भी आप उनके आत्मा रूपी परम देवता है। आप ही से धर्म उत्पन्न हुआ है और आप हो अवतार धारण कर उसकी रक्षा किया करते है। तत्वज्ञानी आप ही को अति गोपनीय निर्विकार धर्म के फल स्वरूप कहा करते हैं। आपकी कृ ा ही से योगी जन तुच्छ सांसारिक सुख से छूट कर, मृत्यु-भय को अतिक्रम किया करते है। इसलिये अन्य लोग आप पर अनुग्रह करें—यह सर्वथा असम्भव है। आप स्वयं सब गुणों के आधार है, अत: ब्र.ह्मणों की पवित्र चरणरज आपको किस प्रकार पवित्र कर सकती है। आपने इस विनय के अधिपति होकर धर्मरक्षा के लिये ब्राह्मणों को नमस्कार किया। उससे आपका तेज नहीं घटा, क्योंकि आप तो इसी प्रकार आमोद प्रमोद किया करते है। हे श्रीपते! यदि आप इन दोनों अपराधियों को कोई अन्य दण्ड दे, तो भी हम सन्तुष्ट हैं, और यदि आप ऐसा समझें कि हमने निरपराध ही इन दोनों को शाप दिया है, तो हमें आप उचित दण्ड दें।

श्रीमन्नारायण—मेरे ये दोनों द्वारपाल असुरवंश में जन्म लें। उस वंश में जन्म लेने से ये सर्वदा मुझ पर क्रोध करेंगे, जिससे इनका अन्तःकरण मुझीमें लगा रहैगा। इसका फल यह होगा कि थोडे ही समय के भीतर ये फिर यहाँ लौट आवेंगे। हे विप्रर्षि! आपने इन्हें जो शाप दिया है सो निश्चय जानिये मेरी ही इच्छा से दिया है।

सनकादि ब्रह्मर्षि भगवान् के दर्शन कर और प्रदक्षिणा कर प्रणामपूर्वक निज स्थान पर लौट आये। तब श्रीमन्नारायण ने अपने त्रस्त द्वारपालों से कहा:—

श्रीमन्नारायण—तुम डरो मत। तुम्हारा मङ्गल हो। अब तुम यहाँ से विदा हो जाओ। ब्रह्मतेज को अन्यथा करने की शक्ति रहते भी, उसे अन्यथा करने की मेरी इच्छा नहीं है। इस भांति तुम्हारे शापग्रस्त होने की मेरी ही इच्छा थी। क्रोधवश मुझमें चित्त लगाने से तुम्हें योगसिद्धि मिलेगी तब तुम मेरे समीप लौट आओगे।

शिक्षा।

(१) जो ब्राह्मण ब्रह्मवित् हैं, वे भगवान् को परम प्रिय हैं—उनके लिये भगवान् वैकुण्ठधाम छोड़ कर धराधाम पर अवतीर्ण होते हैं। उनका जो अपमान करता है, उनको वे स्वयं दण्ड देते हैं। ब्राह्मण पूज्य हैं और उनके पूजन से भगवान् प्रसन्न होते हैं। साथ ही उनका जो अपमान करता है वह भगवान् का चाहे कितना निकटस्थ क्यों न हो—उसे जय विजय नामक द्वारपालों की तरह नीचा देखना पड़ता है। ब्रह्मर्षियों के अपमान ही का यह फल है कि जय विजय को वैकुण्ठ से च्युत हो असुर योनि में जन्म लेना पड़ा।

२८-हिरण्याक्ष का उपाख्यान ।

[गर्व करने का परिणाम ।]

जय विजय दुस्तर ब्रह्मशाप से श्रीभ्रष्ट और गर्वरहित होकर वैकुण्ठ से पतित हुए। उन्हे वैकुण्ठ से च्युत होते देख वैकुण्ठवासी हाहाकार करने लगे। उन दोनों ने कश्यप के औरस से दिति के गर्भ में जन्म धारण किया। उन दोनों यमजो के तेज से देवताओ का तेज फीका पड़ गया। दोनो यमजो के जन्मकाल में बड़े बड़े उपद्रव हुए। पर्वतों सहित पृथिवी काँपने लगी। दुस्सह वज्र और उल्कापात होने लगा। वायु भयानक शब्द से बहने लगा और धूलि प्रचण्ड वेग से उड कर वायु की सहायता से बडे बड़े वृक्षों को उखाडने लगी। घनघटा के वीच बिजली चमकने लगी। तिस पर भी आकाशमण्डल अन्धकार से ऐसा परिपूरित हुआ कि कुछ भी न दीखता था। समुद्र की भयानक लहरों से मकर आदि जन्तु अत्यन्त त्रस्त हुए। कूप वावली आदि के जल क्षुब्ध हो गये। विना वादल के वज्रपात हुआ और भूमि में रथ चलने के शब्द की तरह शब्द होने लगा। अमङ्गल शब्द करती हुई सियारिने गॉवों में घुमी। सियार और उल्लू भयानक शब्द करने लगे। कुत्ते रोने लगे, गधे अपने खुरों से मिट्टी उडाने लगे और हीचो हीचो करते हुए इधर उधर घूमने लगे। गौओं के स्तनों से दूध के वदले रक्त गिरने लगा। देवमूर्त्तियॉ रुदन करने लगी। कहने

का तात्पर्य यह है कि उस समय प्रकृति और चराचर प्राणियों ने विकराल उग्रमूर्ति धारण कर भीषण भविष्य की सूचना दी। ब्रह्मा और सनकादि महर्षियों को छोड़ सब ने यही समझ लिया कि प्रलय काल उपस्थित होने वाला है।

उन विशाल शरीरधारी असुरों का नामकरण ब्रह्मा ने किया। पहले का नाम हिरण्यकशिपु और दूसरे का हिरण्याक्ष रखा गया। हिरण्यकशिपु को किसी से भी मृत्यु का भय नहीं था, इस लिये उद्धत होकर उसने ब्रह्मा के वर और अपने बाहुबल से त्रिलोक को वशीभूत किया।

उसका छोटा भाई हाथ में गदा लेकर युद्ध के लिये स्वर्ग में गया। उसके पैरों में नूपुर और गले में वैजयन्ती माला पड़ी थी। वह वेगवान् दैत्य, मनबल, शरीरबल और ब्रह्मा के वर से गर्वित होकर किसी से भी नहीं डरता था। देवता, गदाधारी हिरण्याक्ष को युद्ध के लिये आया देख इस प्रकार भगे, जैसे गरुड़ को देख सर्प भागते हैं। दैत्यराज हिरण्याक्ष इन्द्रादि देवों को देख उन्मत्त की भाँति गम्भीरभाव से समुद्र में पैठा। उसे समुद्र में पैठते देख, मकर मच्छ आदि लोकपाल वरुण की सेना विह्वल हुई। दैत्यराज के प्रहार न करने पर भी उसके डर के मारे वरुण की सेना भागने लगी।

महाबली हिरण्याक्ष ने वरुण की विभावरीपुरी में बहुत दिनों तक वास किया। उस समय उसके साँस लेने से भयङ्कर तरङ्गें उठने लगीं; दैत्यराज लौहमयी गदा से तरङ्गों पर आघात करता हुआ क्रीड़ा करने लगा और हँस हँस कर वरुण का उपहास करने लगा। वरुण को सम्बोधन कर वह कहता था :

हिरण्याक्ष—महाराज! मैं आपसे एक दान माँगता हूँ। वह है युद्ध। आप यशस्वी और गर्वनाशक हैं। आप

ने दैत्य दानवों को जीत कर राजसूय यज्ञ से हरि को प्रसन्न किया है। मेरे हाथों की खुजलाहट आप ही मिटा सकते हैं।

वरुण हिरण्याक्ष की उपहास भरी इन बातों को सुन बहुत कुपित हुए, पर क्रोध को मन ही मन दबा कर वे हिरण्याक्ष से बोले —

वरुण—मैंने अब युद्ध करना छोड़ रखा है। तुम रणपण्डित हो, अतः पुराण पुरुष को छोड़ युद्ध में तुम्हें सन्तुष्ट करने वाला दूसरा कोई नहीं दीखता। हे असुर श्रेष्ठ! इसलिये तुम उन्हींके पास जाओ। तुम्हारे समान वीर पुरुष उन्हींसे युद्ध करने की प्रार्थना करते हैं। उनके पास जाते ही तुम्हारा गर्व नष्ट होगा और तुम कुत्ते एवं गिद्ध सियारों से घिर कर रण-भूमि में सदा के लिये सो रहोगे। वे हरि दुष्टों को मारने और शिष्टों का पालन करने के लिये अनेक मूर्त्तियाँ धारण कर लिया करते हैं।

हिरण्याक्ष, वरुण के मुख से अपने मारे जाने के कठोर वचन सुन कर क्रोध के मारे थर थर काँपने लगा। अनन्तर नारद जी से भगवान् का पता पाकर पाताल में गया। वहाँ जाकर उसने देखा कि विश्वविजयी शूकर भगवान् दाँतों के अग्रभाग से पृथ्वी को उठा रहे हैं। उनकी काल रूपी दृष्टि से हिरण्याक्ष का सब तेज नष्ट हो गया। तथापि वह उपहास करके कहने लगा —

हिरण्याक्ष—वाह! शूकर तो जल में विचरता है। (नारायण का सम्बोधन कर) अरे! इस पृथ्वी को छोड़ दे। क्योंकि इसके बनाने वाले ने यह मुझे सौंप दी है।

हे शूकर रूपी नीच देवता! तू मेरे सामने इसे ले जा नहीं सकता। न जाने क्यों हमारे शत्रु हमारे नाश के लिये तेरी शरण लेते हैं? तू भी माया की कोर से सब लोकों को जय करता है। माया ही तेरा बल है और तुझमें कुछ भी नहीं है। रे मूढ़! आज तुझे मार कर मैं बन्धुओं का शोक दूर करूंगा। मेरी गदा से तेरी खोपड़ी चूर चूर हो जायगी। तेरे साथ ही तेरे हिमायती देवता और ऋषि भी नष्ट होंगे।

शूकर रूपी भगवान् ने दैत्य के ऐसे कठोर वचन सुन कर, व्यथित हो देखा कि उनके दांतों पर रखी पृथ्वी कांप रही है। उन्होंने अपने मानसिक भाव को मन ही म दबा कर, पृथ्वी को उसी प्रकार जल से निकाला जैसे ग्राहग्रसित गज को निकाला था। उनके भयङ्कर दांत सोने जैसे चमक रहे थ। भगवान् को जलके बाहर देख हिरण्याक्ष उनके पीछे ऐसे चला जैसे ग्राह गज के। फिर कठोर वचन कहता हुआ बोला—' जो निर्लज्ज हैं, असाधु हैं, उनके लिये निन्द्य कर्म कोई भी नहीं है।"

उधर भगवान् ने निज शक्ति के आधार पर पृथ्वी को स्थापित किया और हिरण्याक्ष का सामना किया। हाथ में गदा, सोने के आभूषण पहने, सोने का कवच लगाये, दैत्यराज हिरण्याक्ष उनके पीछे पड़ा। भगवान् ने हँस कर कहा,—

भगवान्—मैं सचमुच शूकर हूँ। तुझसे कुत्तों को जनसमाज में ढूंढ़ता फिरता हूँ। सो हे अभद्र! तू अब मृत्यु के मुख में पड़ना चाहता है। जो अच्छे वीर हैं वे तेरी बड़ाई को सुनते भी नहीं। विधाता ने तुझे यह

पृथिवी दान की थी। मैंने उसे ही हरण किया है इसीसे तू हाथ में गदा ले मेरे पीछे दौड़ रहा है। अब तू देर न कर और मुझसे युद्ध कर और मुझे मार कर अपने स्वजनों के आँसू पोंछ। जो लोग प्रतिज्ञा करके उसे पूरी नही करते, वे सभा में बैठने नही पाते और शिष्ट लोग उन्हें असभ्य कहते हैं।

नारायण के साथ खेलने से जैसे सर्प उनके द्वारा तिरस्कृत हुआ, हिरण्याक्ष की भी वैसी ही दशा हुई। वह भी वैसा ही कुपित हुआ, उसकी सब इन्द्रियाँ चञ्चल हुई, वह क्रोध में भर फुँफकारने लगा, वह बड़े वेग से हरि की ओर दौड़ा और पास पहुँच कर उसने उनकी छाती ताक कर गदा चलाई। जैसे योगी मृत्यु को अतिक्रम करता है, उसी भाँति हरि ने ज़रा टेढ़े हो कर दैत्य की चलाई गदा को व्यर्थ कर दिया। अपनी गदा को व्यर्थ जाते देख हिरण्याक्ष के क्रोध की सीमा न रही। उसने गदा हाथ में ले, हरि पर आक्रमण किया। यह देख नारायण ने उसकी भौंह ताक कर गदा चलाई। हिरण्याक्ष भी उस वार को बचा गया। अनन्तर दोनों में तुमुल युद्ध होने लगा। दोनों के शरीर क्षत विक्षत हुए। रुधिर की धारें बहने लगीं। जब माया से शूकर-रूप-धारी विष्णु और हिरण्याक्ष युद्ध करने लगे, तब ऋषियों सहित ब्रह्मा उस युद्ध को देखने के लिये उपस्थित हुए। और भगवान् से कहने लगे —

ब्रह्मा—भगवन्! दैत्यराज का गर्व बहुत चढा बढ़ा है। यह किसी से नही डरता। इसके तेज को रोकना बड़ा कठिन है। हे देव! यह मेरे वर से गर्वित हो प्राणी मात्र के लिये डर का कारण हो रहा है। यह तीनों लोकों में खोज आया, इसे इसके हाथों

> को खुजली मिटाने वाला आज तक कोई नहीं मिला। जैसे बालक क्रुद्ध सर्प के साथ खेलता है, उस प्रकार आप इस अहङ्कारी, मायावी, अधर्म्मी, निर्भय दैत्य को लेकर खेल न करें। हे अच्युत! आसुरी वेला को प्राप्त हो कर इसका बल न बढ़ने पावे। अब सन्ध्या का समय आने वाला है, आप उसके पूर्व ही इसका वध कीजिये।

ब्रह्मा जी की बातें सुन भगवान् बहुत सन्तुष्ट हुए। अनन्तर उन्होंने बड़े वेग से उस दैत्य पर गदा का प्रहार किया किन्तु दैत्यराज की गदा की चोट से भगवान् के हाथ से छुटी हुई गदा, भूमि पर गिर पड़ी। यह एक आश्चर्य घटना हुई। जो हो, दैत्यराज ने युद्ध धर्म की रक्षा करते हुए अशस्त्र हरि पर प्रहार न किया। केवल उन्हें खिजाने लगा। कुछ देर बाद उन दोनों में फिर युद्ध आरम्भ हुआ। दैत्यराज ने भगवान् पर गदा चलायी। उस गदा को आते देख, जैसे गरुड़ साँपिन को पकड़ता है। वैसे ही भगवान् ने उसे पकड़ लिया। निज पराक्रम को निष्फल होता देख दैत्यराज का मान भङ्ग हुआ। भगवान ने उसकी गदा उसे लौटा देनी चाही, पर उसने न ली, किन्तु उसने एक बड़ा पैना त्रिशूल भगवान पर फेंका। हरि ने उस त्रिशूल को चक्र से काट डाला। यह देख हिरण्याक्ष ने आगे बढ़ कर बड़े ज़ोर से भगवान की छाती में एक घूँसा मारा और स्वयं अन्तर्द्धान हो गया।

जैसे हाथी फूल की चोट से कम्पित नहीं होता वैसे ही हरि उसके मुष्टिप्रहार से विचलित न हुए तब दैत्यराज ने हरि के ऊपर अनेक प्रकार का मायाजाल फैलाया। उसे देख सारी

प्रजा समझने लगी कि अब प्रलय होने वाली है। अचानक धूलि उठकर, प्रचण्ड वायु चलने लगा और चारों ओर अन्धकार छा गया पत्थर के टुकड़े उड़ उड़ कर चारों ओर गिरने लगे। आकाश में भयङ्कर कड़कड़ाहट के साथ बिजली चमकने लगी। नक्षत्र अदृश्य हो गये। उन बादलों से पीव लोहू, केश, मूत्र, पुरीष, हड्डी आदि की वर्षा होने लगी, उस समय ऐसा जान पड़ता था कि मानो पर्वत विविध अस्त्र शस्त्रों को चला रहे है। खुले केशों सहित हाथ में त्रिशूल लिये सैकड़ों राक्षसी दौड़ीं। असंख्य यक्ष राक्षस मारने को उद्यत हुए। रथ, हाथी, घोड़ों पर सवार सैनिक "मार मार" चिल्लाने लगे। तब भगवान् ने उस आसुरी माया को विनष्ट कर, शत्रु-संहार-कारी चक्र चलाया।

उधर अपनी सारी माया को निष्फल हुई देख, दैत्यराज बहुत कुपित हुआ और दौड़ कर दोनों भुजाओं से भगवान् को पकड़ लिया। पर वह देखता क्या है कि विष्णु भगवान् तो उसकी भुजा के बाहिर हैं। तब उसने उनके फिर एक घूँसा मारा। घूँसा खाकर विष्णु ने दैत्य की कनपटी पर एक ऐसा थप्पड मारा कि उसका सारा शरीर काँप गया। आँखें निकल पड़ीं, हाथ पैर शिथिल हो गये और वह इस प्रकार पृथिवी पर गिरा जैसे वायु के वेग से टूट कर शैलराज भूमि पर गिरता है। यह देख ब्रह्मा आदि देवगण आपस में कहने लगे :—

ब्रह्मादि देवगण—वाह ! ऐसी मृत्यु कौन पा सकता है ? योगीजन मुक्ति की इच्छा से निर्जन स्थान में बैठ कर समाधि लगा कर जिसका ध्यान करते हैं, यह दैत्य उन्हीके हाथ के प्रहार से उन्हींका दर्शन करता हुआ, प्राण विसर्जन कर गया।

इसके बाद ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान् को सम्बोधन करके कहाः—

ब्रह्मादि देव—हे यज्ञेश्वर! हे भगवन्! हम आपको नमस्कार करते हैं। आपने विश्व के पालन के लिये विशुद्ध सत्व मूर्त्ति धारण की है। यह हमारा सौभाग्य है कि यह दैत्य आपके हाथ से मारा गया। आपके चरणों में बारम्बार प्रणाम है।

भगवान् वाराह हिरण्याक्ष को मार कर अपने सदा उत्सव-पूर्ण भवन को चले गये।

शिक्षा।

(१) यदि किसी के शरीर में बहुत बल है तो उसे आजमाने के लिये, बिना प्रयोजन किसी के साथ शत्रुता मत करो। हिरण्याक्ष ने बल के गर्व में अपना नाश अपने हाथों से किया। गर्व बड़ी बुरी वस्तु है। गर्वप्रहारी भगवान किसी के गर्व को नहीं देख सकते। गर्व चाहे धनका हो, चाहे जन का हो, चाहे विद्या का हो—वह बुरा है। भगवान् ने बहुत से खाद्य पदार्थ प्राणी मात्र के लिये बनाये। पर गर्व को अपना खाद्य बनाया है। अतः गर्व कभी नहीं करना चाहिये।

"कनक नयन वध रुधिर छींट मिलि,
कनक बरन छवि छाये,
रद आगे धर ससि कलंक मनु,
रूप वराह सुहाये,
जय जय जय जगदीश हरे!"

३० समुद्रमन्थन का उपाख्यान ।

[बड़ों की शिक्षा के अनुसार काम करने का फल]

एक वार महर्षि दुर्वासा के शाप से त्रिलोकी की श्रीभ्रष्ट हो गयी । इन्द्र श्रीभ्रष्ट हो बड़े चिन्तित हुए। क्योंकि श्रीभ्रष्ट देवताओं का असुर संहार करने लगे। याग यज्ञादि लोप हो गये तव इन्द्रादि देवगण एकत्र हो परामर्श करने लगे। जब वे स्वय कोई उपाय निश्चित न कर सके, तब वे सुमेरु पर्वत की शिखर पर स्थित ब्रह्मा जी के पास गये।

ब्रह्मा ने देखा कि देवताओं में बल, वीर्य, प्रभा कुछ भी नहीं है। असुर अत्यन्त प्रबल हो गये हैं और लोग अनेक भाँति की पीडा भोग रहे हैं तव उन्होंने नारायण का स्मरण करके देवताओं से कहा —

ब्रह्मा -हे अमरवृन्द ! मैं महादेव तुम असुर, पक्षी, पशु और मक्षिकादि समस्त कीडे मकोड़े—जिस पुरुष के अंश से उत्पन्न हुए हैं, चलो हम सब उन्हींकी शरण में चलें क्योंकि इस संसार को उत्पन्न, पालन और संहार करने वाले वे ही हैं, तुम सब

उनके प्रिय हो और हम भी उन्हीं के है। हम उन्ही विश्वगुरु का आश्रय ग्रहण करते है—वे अवश्य हमारा हित साधन करेंगे।

इस प्रकार ब्रह्मा जी ने देवताओं को धैर्य बँधाया और उन्हें लिये हुए वे वासुदेव के ज्योतिर्मय धाम में पहुँचे और उनकी स्तुति की। स्तुति सुन भगवान् प्रसन्न हुए और उनके सामने आये। जैसे एक साथ हजार सूर्य उदय हों उसी प्रकार भगवान् के प्रकट होते ही प्रकाश हो गया। मारे चकाचौंध के देवता उनकी ओर देख तक न सके। केवल ब्रह्मा और महादेव उस अलौकिक ज्योति में मरकत मणि के समान श्रीनारायण की उज्ज्वल और श्यामल मूर्त्ति को देखने लगे। अनन्तर देवताओं सहित ब्रह्मा और महादेव ने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम की। अनन्तर हाथ जोड कहने लगे:—

ब्रह्मा—आप घट घट में विराजमान अन्तर्यामी है। आप सब के मन की बात जानते हे। हम अपनी अभिलाषा आपके सामने क्या प्रकट करें। हममें इतनी समझ नहीं कि हम जान लें कि क्या करने से हमारा मङ्गल होगा और क्या करने से अमङ्गल होगा। आप हमें सदुपदेश दें।

भगवान अन्तर्यामी को उनके मन की बात जानने में पल भर का भी विलम्ब न हुआ। अद्भुत क्रियादि को करते हुए लीला करना ही भगवान का स्वभाव है। वे सर्वशक्तिमान और जगत के एकमात्र ईश्वर है। वे चाहते तो भृकुटि-विलास ही से दैत्य वंश का ध्वंस कर देवताओं के कष्ट दूर कर सकते थे, किन्तु वैसा न कर के समुद्र मन्थनादि क्रीडा द्वारा लीला करने की

इच्छा करके जल्द गम्भीर वाणी से ब्रह्मादि देवताओं को सम्बोधन कर कहने लगे —

विष्णु—हे लोकेश! हे पशुपते! हे सुरगण! तुम सब सावधान होकर हमारे वाक्यों को सुनो। ऐसा करने से तुम्हारा सब का मङ्गल होगा। जब तक तुम अपने बलवीर्य की उन्नति न कर सको, तब तक दैत्यों के साथ तुम सन्धि कर लो। शुक्राचार्य के अनुग्रह ही से दैत्यवंश प्रबल हुआ है। यह नीति है कि अपना काम बनाने के लिये शत्रु के साथ भी मेल कर, अपना काम निकाल लेना चाहिये। तुम लोग यदि अपना भला चाहो तो शीघ्र ही अमृत निकालने का यत्न करो। अमृत पान करने से मृत भी जीवित हो सकता है।

इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् ने देवताओं को अमृत निकालने की विधि बतलायी। साथ ही अमृत निकालने में स्वयं सहायता देने का वचन देते हुए कहा —

भगवान्—तुम लोग असुरों से मिल कर क्षीर सागर में समस्त, लता और औषधियाँ डालो। फिर मन्दर पर्वत को रई और वासुकी सर्प की नेती बना कर, मथना आरम्भ करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। इस समुद्र-मन्थन से तुम्हारा मङ्गल और दैत्यों का अमङ्गल होगा। असुर जो प्रस्ताव करें, तुम उसमें सहमत हो जाना। विग्रह और सन्धि—इन दोनों में सन्धि द्वारा कार्य जैसी उत्तमता से होता है वैसा विग्रह से नहीं होता। समुद्र-मन्थन करने

से जो भयङ्कर विष उत्पन्न होगा, उससे डरना मत और अन्य वस्तुएं जो निकलें उनके लालच में भी न पड़ना।

यह कह कर भगवान् विष्णु अन्तर्द्धान हो गये। अब ब्रह्मा और शिव भी अपने अपने लोकों को लौट कर चले गये। भगवान् की आज्ञानुसार देवगण, असुरों से सहायता पाने के लिये असुराधिपति बलि के पास गये। दैत्यों ने देवताओं को निरस्त्र और रणसाज से सजा हुआ न देख कर भी अपने अपने अस्त्र शस्त्र धारण कर, युद्ध की तयारियां कीं, परन्तु महात्मा बलि ने उन्हें रोक दिया। युद्ध का कौनसा समय है और सन्धि का कौनसा समय है--यह महात्मा बलि भली भांति जानते थे।

महात्मा बलि अपने सेनापतियों से घिरे हुए सभा में बैठे थे, इतने में सब देवता इन्द्र को आगे कर जा पहुंचे। परम चतुर इन्द्र ने बड़े मधुर स्वर से सारा वृत्तान्त कहा। अरिष्टनेमि और शम्बरादि बलि के प्रधान सेनापतियों ने इन्द्र की बातों पर विश्वास कर लिया।

देवता और असुरों में जो सदा का वैर था उसे असुर भूल गये और देवताओं के साथ उन लोगों ने मित्रता करली और समुद्रमन्थन की तयारियां होने लगीं। देवता और असुरों ने मिल कर, मन्दर पर्वत को उखाड़ा और उसे समुद्र की ओर ले चले पर उसे वे बहुत दूर तक न ले गये थे कि थक कर उन्होंने उसे छोड़ दिया। उस पर्वत के गिरने से कितनों ही के हाथ, पैर और शरीर चूर हो गये तब भगवान विष्णु को दया आयी और उन्होंने उसे गरुड़ की पीठ पर रख, बात की बात में उसे क्षीरसागर के तट पर पहुंचा दिया।

तब वासुकी ने स्वयं डोरी बन कर, पर्वत को वेष्टन किया। नारायण और देवताओं ने सिर की ओर वासुकी को पकड़ा। इस पर दैत्यों ने अप्रसन्न होकर कहा:—

असुर—हम वेद को पढ़ा करते है और अनेक शास्त्रादि पढ़ चुके हैं। हम नीच वंश में भी उत्पन्न नहीं हुए, अत हम साँप की पूँछ को नहीं पकडेंगे।

यह कह कर दानव अलग होगये। तब कार्य को सफल होता देख नारायण ने मुसक्या कर, वासुकी का फन छोड दिया और देवों सहित उसकी पूँछ पकड ली। यह देख असुर बहुत प्रसन्न हुए और झट वासुकी का अग्रभाग थाम लिया। मन्थन का कार्य आरम्भ हुआ, पर निरावलम्ब होने के कारण वह भारी पर्वत जल में डूबने लगा, तब तो सुरासुर दोनों बहुत दु खित हुए, उनका उत्साह भङ्ग होगया और मुख मलिन होगया।

पर भगवान् का असीम बल न तो कभी व्यर्थ गया और न उनकी कोई चाल ही खाली पड़ी। समुद्रमन्थन में इस प्रकार का विघ्न उपस्थित देख उन्होंने एक अद्भुत और अत्यन्त बड़े कच्छप का रूप बनाया। फिर जल में प्रवेश कर पीठ पर मन्दर को धारण किया। यह देख देव और असुर बड़े उत्साह के साथ मन्थनकार्य में प्रवृत हुए। उस कच्छप में इतना बल था कि मन्दर जैसे बोझिल पर्वत को वह बड़ी आसानी से थामे हुए था। जब कुछ देर तक मन्थनकार्य होता रहा तब रगड़ों के मारे विकल हो वासुकी की नासिका से विषैली आग के साथ धुआँ निकलने लगा। उसके लगने से अनेक असुर प्रभाहीन हो मलिन हो गये।

इसके उपरान्त समुद्र को मथते मथते सब से पहले हलाहल नामक अतितीव्र विष निकला। क्रमशः वह विष धीरे धीरे सर्वत्र

फैल गया। उसकी लपटों से प्राणीमात्र परितप्त हुए। तब सब लोगों के द्वारा स्तुति किये जाने पर भगवान् शिव ने उसे अपने कण्ठ में धारण किया। उसकी ज्वाल से भगवान् महादेव का कण्ठ नीला पड गया और तभी से वे नीलकण्ठ कहलाये। अनन्तर समुद्र-मन्थन कार्य फिर आरम्भ हुआ मथते मथते सुरभि नामक एक गौ जल से निकली। यज्ञ के लिये हवि आदि संग्रह करने के लिये ब्रह्मादि देवताओं ने उसे ले लिया। तदुपरान्त अत्यन्त श्वेतरङ्ग का उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा उत्पन्न हुआ। दैत्यराज बलि ने उस घोड़े को लेना चाहा। उधर उस घोड़े को देख देवता भी ललचाये, परन्तु नारायण ने उन्हें पहिले ही समझा दिया था, इसलिये उन लोगों ने आग्रह न किया। अश्वराज की उत्पत्ति के पीछे क्रमानुसार ऐरावत आदि आठ दिग्गज और उनकी आठ स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं। फिर मणियों में श्रेष्ठ कौस्तुभ मणि वृक्ष श्रेष्ठ पारिजात और मनोहर वस्त्र व आभूषण पहने हुए अप्सराएँ उत्पन्न हुईं। भगवान ने कौस्तुभमणि को स्वयं गले में धारण किया। अप्सराओं के बाद, दसों दिशाओं को प्रकाशमान कर के बिजली के समान भगवती लक्ष्मी जी जल से प्रकट हुईं। उनका चित्त नारायण के प्रति आसक्त था उनका रूप लावण्य देख कर देवता दैत्य मनुष्यों ने उनके लेने की इच्छा प्रकट की अन्त में सब की सम्मति से यह भार लक्ष्मी जी ही को सौंपा गया कि वे अपनी इच्छानुसार जिसे चाहें उसे वरण कर लें। सिन्धुसुता ने अपने मन में बहुत सोच विचार कर श्रीमन्नारायण का आश्रय ग्रहण किया क्योंकि वे सब गुणों के आधार हैं और किसी बात के लिये दूसरे की अपेक्षा नहीं करते। प्रकृति के गुण सकल उनको स्पर्श नहीं कर सकते और वे अणिमादि समस्त ऐश्वर्य को धारण करते हैं।

अनन्तर सुरासुर मिल कर, अमृत निकालने के लिये फिर समुद्र को मथने लगे। कुछ देर बाद एक दिव्य पुरुष अमृत का भरा हुआ घड़ा हाथ में लिये हुए जल से निकला। उस पुरुष का रङ्ग नवजलधर के समान श्याम था। नेत्र लाल रङ्ग के गर्दन मोटी, छाती विशाल और दोनों हाथ इतने लम्बे थे कि घुटनों तक पहुँचते थे। वह तरुण था, पीताम्बर धारी था, कानों में कुण्डल थे, केश सफेद, और कुछ कुछ छल्लेदार थे। हाथों में कडे, गले में माला और अनेक प्रकार के आभूषण पहने हुए, देखने में वडा सुन्दर जान पडता था। उनका नाम धन्वन्तरि था और आयुर्वेद के वे आचार्य थे। जैसे ही वे समुद्र से निकले, वैसे ही असुरों ने उनके हाथ से अमृत का कलश छीन लिया। यह देख देवता लोग बड़े दुःखी हुए। अन्य उपाय न देख वे फिर नारायण की शरण में गये। भगवान् ने अपने भक्त देवों को खिन्न देख उन्हें धीरज दिया और वैष्णवी माया से असुरों मे परस्पर झगड़ा उत्पन्न कर दिया।

तमोगुणी असुर स्वभाव ही से लोभी होते है। इसी से वे दैवी-माया से मोहित होकर झगडा करने लगे। जो दैत्य दुर्बल थे और अमृत का कलस जिनके अधिकार में न था, वे कहने लगे कि देवता और दैत्यों ने एक साथ समुद्र मथा है। अतः अमृत का भाग देवताओं को मिलना चाहिये। यदि हम लोग ऐसा न करेंगे तो हमारी निन्दा होगी और यह समझा जायगा कि मानो हमने विश्वधर्म के विरुद्ध कार्य किया।

जब इस प्रकार दैत्यों ने आपस में झगडा आरम्भ किया तब सर्वशक्तिमान भगवान् ने एक अति अद्भुत सुन्दरी रमणी का रूप धारण किया। वह सर्वाङ्ग सुन्दरी और नीलोत्पल के समान श्याम रङ्गवाली थी। उसे आते देख, परस्पर झगडने वाले असुर

उस पर मोहित हो गये, और उसकी प्रशंसा कर उससे पूँछने लगे —

असुरगण—हे कमलनेत्रे! आप कहाँ से आती हैं? आप किसकी भार्य्या हैं? कृपया शीघ्र हमारे प्रश्नों के उत्तर दीजिये। जान पड़ता है विधाता ने अपनी कारीगरी का आदर्श बना कर आपको भेजा है। हे कृशोदरि! आप हमारा एक काम करें। हम लोग इस अमृत के लिये एक दूसरे के शत्रु हो गये हैं। हम सब कश्यप की सन्तान हैं। अतएव आप ऐसा कीजिये कि हमारा भाग हमें मिले। न्यायानुसार अमृत को बाँटने की आप कृपा कीजिये।

श्रीनारायण हे कश्यपनन्दनगण! तुम मेरा पीछा क्यों करते हो? पण्डितों को उचित है कि कभी स्त्रियों का विश्वास न करें।

यद्यपि नारायण ने ठीक बात कही थी पर असुर ने उस पर कुछ भी ध्यान न दिया और अमृत का घड़ा उनके हाथ में दे दिया। तब उस संसार मोहिनी ने हँस कर कहा:

मोहिनी -हे दैत्यादिगण! जो मेरी इच्छा होगी-वही करूँगी। यदि उसमें तुम कुछ मीनमेख न करो तो मैं अमृत को बाँट सकती हूँ।

असुर गण—बहुत अच्छा! आप जैसा उचित समझें करें।

अनन्तर असुर स्नान कर होम करने लगे। ब्राह्मणों ने मङ्गल पाठ किया। होम और स्वस्त्ययन समाप्त होने पर असुर अपनी अपनी इच्छानुसार वस्त्र पहिन कर पूर्व मुख हो कुशासनों पर बैठे। उनके पास ही दूसरी पंक्ति में देवता भी आ बैठे।

पर जिस प्रकार सर्प को दूध पिलाना अनुचित है, वैसे ही असुरों को अमृत पिलाना ठीक नहीं, क्योंकि असुर स्वभाव ही से क्रूर होते हैं। अमृत अथवा दूध के पीने से उनकी क्रूरता ही बढ़ती है। अतः दो पंक्तियों में अलग अलग बैठे हुए देवासुरों को भगवान् ने मीठे मीठे वचनों का भुलावा दे सारा अमृत देवताओं को पिला दिया। पहिले असुरों ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मोहिनी चाहे भला करे चाहे बुरा—हमें स्वीकार है। हम किसी प्रकार की आपत्ति न करेंगे। इसीसे अपनी इस प्रतिज्ञा को स्मरण कर उन्होंने मोहिनी के कार्य में बाधा न डाली।

पर सिंहिका के पुत्र राहु के मन में खटका उत्पन्न हुआ। वह देव वेश धारण कर देवताओं की पंक्ति में बैठ अमृत पीने लगा। चन्द्रमा और सूर्य्य ने यह बात प्रकट कर दी। यह बात प्रकाशित होते ही भगवान् ने झट चक्र से उस दैत्य का मस्तक काट डाला। पर अमृत पान के कारण राहु अमर हो चुका था। विधाता ने उसको ग्रह होने की अनुमति दी, परन्तु दुरात्मा राहु उसी शत्रुता के वश, सदा चन्द्रमा और सूर्य्य को सताया करता है। असल बात यह थी कि यद्यपि देवता और असुर सब ही बातों में समान थे तथापि देवताओं ने भगवान् के चरणों का आश्रय लिया था, पर असुरों ने नहीं। इसीसे देवता तो अमृत पान कर सके, असुर नहीं।

ईश्वर को अपने से अलग समझ मनुष्य मन, प्राण, धन, कर्म और वाक्य द्वारा अपने शरीर और स्त्री पुत्रादि के निमित्त जो कुछ करते हैं, वे सब कार्य निष्फल होते हैं किन्तु ईश्वर के साथ अपने को अभिन्न समझ कर यदि सब कार्य किये जायँ

तो मङ्गल ही होता है। वृक्ष की जड़ में पानी देने से उसकी शाखा प्रशाखाएं अपने आप हरी भरी हो जाती हैं।

शिक्षा ।

इस उपाख्यान के पढ़ने से हमें जो उपयोगी शिक्षाएं मिल सकती हैं वे ये हैं:—

(१) जब कोई कार्य अपने से न हो सके तब जैसे देवताओं ने ब्रह्मा से जाकर परामर्श किया, वैसे अपने गुरुजनों से परामर्श लेना चाहिये।

(२) यदि तुम में इतनी आस्था है कि तुम अपने से बड़ों का परामर्श लेना आवश्यक समझते हो, तो साथ ही तुम्हें अपनी बुद्धि को अधिक कष्ट न देकर गुरुजनों के परामर्शानुसार अकुण्ठित भाव से काम करने में कटिबद्ध हो जाना चाहिये। जैसे इन्द्रादि देवताओं ने नारायण के परामर्शानुसार झट जाकर अपने चिरकाल के शत्रु असुरों से मेल कर लिया, फिर जब समुद्र मथन का समय आया तब भी नारायण के कथनानुसार पहले तो वासुकी के फन को पकड़ा पर जब असुर अप्रसन्न हुए, तब झट अलग हो गये। इसमें देवताओं को कितना लाभ हुआ।

(३) परोपकार की शिक्षा देवशिरोमणि भगवान भूतभावन शिव जी से लेनी चाहिये। अपने अपने स्वार्थसाधन के लिये किसी ने घोड़ा किसी ने हाथी, किसी ने मणि, किसी ने अमृत लिया, पर विशुद्ध परोपकार के लिये भगवान शिव ने उस हलाहल को अपने गले में रख लिया, जिसकी लपटों से सारा संसार भस्म हुआ जाता था। परोपकार इसीका नाम है।

(४) स्त्री के रूप लावण्य को देख हतबुद्धि मत हो जाओ। यदि असुर उस मोहिनी मूर्त्ति को देख इतने अपने को न भूल जाते, तो क्या वे अमृत पान से वञ्चित रहते ?

"कठिन पीठ मन्थन किन,
छित भर तिल सम राजै,
गिरि घूमन सहरानि,
नींद वस कमठ रूप अति छाजै,
जय जय जय जगदीस हरे !"

—हरिश्चन्द्र ।

———

२१—ऋषभदेव का उपाख्यान ।

[आदर्श उपदेशक ।]

राजा नाभि बड़े प्रतापी राजा थे। उन्होंने भगवान की एकाग्र मन से आराधना करके वरलाभ किया था। उस वरलाभ के फलस्वरूप उनके औरस से एक तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ। वह बालक सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्व-शुभ-लक्षण-समलङ्कृत था। कवियों के वर्णन करने योग्य उसकी देह, तेज, बल, श्री यश, प्रभाव और उत्साह श्रेष्ठ था अत. महाराज नाभि ने उस बालक का नाम ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ ही रख छोड़ा था।

बालक ज्यों ज्यों बड़ा होने लगा त्यों ही त्यों उसका सब प्राणियों में समान रूप से स्नेह बढ़ा। धीरे धीरे वह अपने सद्गुणों के कारण सब का प्यारा हो गया। मन्त्री प्रमुख जितने राजपुरुष एवं प्रजा के मुखिया लोग थे, वे सब एक स्वर से यही कहने लगे कि ऋषभ कब पृथिवी की रक्षा करने में नियुक्त होगा।

एक बार इन्द्र का इतना अभिमान बढ़ा कि उन्होंने ऋषभ के राज्य में वर्षा न की तब योगेश्वर नाभि-कुमार ने इन्द्र के अभिप्राय को जान कर, मुसक्याते हुए, योग माया से अपने

राज्य को जलधारा से अभिषिक्त किया और जलकष्ट से खेती की जो हानि हो रही थी वह दूर की। उनके ऐसा करने से इन्द्र का अभिमान चूर्ण हुआ।

वास्तव में ऋषभदेव भगवान् के अँशावतार थे, किन्तु उनके पिता नाभि उन्हे अपना पुत्र जान कर, उन्हें 'वत्स", "तात" आदि विशेषणों से सम्बोधन किया करते थे। ऋषभ के ऊपर मंत्रियों एवं प्रजा का अनुराग और विश्वास देख, नाभि ने ऋषभ को राजगद्दी पर बिठाया और स्वय मेरुदेवी को साथ लेकर, तप करने के अर्थ बदरिकाश्रम को चले गये।

महाराज नाभि अपने सत्कार्य्यों से राजर्षि कहलाते थे। उन्होंने जैसे कार्य किये वैसे कार्य उनको छोड़ दूसरा कोई नही कर सका था। उनके पवित्र कार्य के प्रभाव से आकर्षित होकर भगवान् हरि स्वय उनके घर में पुत्र रूप से प्रकट हुए थे। इसीसे ऋषभदेव के समान तेज और किसी में न था।

पिता के चले जाने पर ऋषभदेव ने अपने राज्य को कर्म्म का क्षेत्र जान कर, लोक-शिक्षा के निमित्त गुरु-कुल में निवास किया। अनन्तर गुरुदेव को दक्षिणा देकर और उनकी आज्ञानुसार घर लौट कर, वे स्मृति और वेद विहित कर्म्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त हुए। इन्द्र ने उन्हें जयन्ती नाम की कन्या दी। उसके गर्भ से उनके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उन सौ पुत्रो में महायोगी भरत सब से बड़े और श्रेष्ठ थे। उन्हीके नाम पर, इस पवित्र भूखण्ड का नाम भारतवर्ष पडा है। भरत के भाइयो में कुशावर्त्त, इलावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त, मलयकेतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक, विदर्भ, और कीकट—ये नौ प्रधान थे। कवि, हवि, अन्तरिक्ष प्रकुद्ध, पिप्पालायन, आविर्होत्र, द्रविड़, चमस और करभाजन ये भागवत धर्म्म का अवलम्बन कर, भगवान् के भक्त हुए थे। उनके सुन्दर

चरित्र भगवान् की महिमा से पुष्ट थे और वे शुभ गुणों की खान थे। इन उन्नीस राजकुमारों को छोड़, शेष इक्यासी पुत्र और थे, जिनमें से सभी पिता की आज्ञा मानते थे तथा अति विनीत, वेदज्ञ, यज्ञशील और पवित्र कर्म करने वाले थे।

ऋषभदेव आनन्दमय थे। अतः उन्होंने सब अनिष्टों के कारणों को दूर कर दिया था। काल के वश उनके साथ ही जो धर्म्म उत्पन्न हुआ था उन्होंने उस धर्म की स्वयं शिक्षा देने के निमित्त नश्वर के समान कर्म का अनुष्ठान किया। शान्त, दान्त सब प्राणियों के मित्र, और परम करुणानिधान भगवान् ने अर्थ, धर्म, यश, प्रजापालन, भोग और मोक्ष के नियम विधियुक्त करके गृहस्थ धर्म के नियमों को निर्द्धारित किया। उन्हींके चलाये मार्ग पर उनके पीछे के लोग चले। ऋषभदेव धर्म का स्वरूप एवं वेद का सम्पूर्ण रहस्य भली भाँति जानते थे तिस पर भी वे ब्राह्मणों के दिखलाये मार्ग पर चल कर शमादि उपायों से प्रजा-पालन किया करते थे। उन्होंने प्रजा पालन के साथ साथ सौ यज्ञ भी किये थे।

जब नाभिनन्दन पृथिवी की रक्षा करने लगे, तब भारतवर्ष में बसने वाला कोई भी मनुष्य अपने भोग के निमित्त कभी कहीं किसी से किसी भी वस्तु के लिये प्रार्थना नहीं करता था। यहाँ तक कि मानों अपने द्रव्य के सिवाय पृथिवी पर दूसरे किसी मनुष्य का कुछ भी द्रव्य नहीं है—यह विचार कर कोई भी पुरुष दूसरे की द्रव्य को बुरी दृष्टि से नहीं देखता था। सब की भगवान् से यही प्रार्थना थी कि ऋषभदेव पर हमारा अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाय।

एक बार ऋषभदेव घूमते फिरते ब्रह्मावर्त्त में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि ऋषियों की मण्डली में बैठे उनके पुत्र

शिक्षित हो विनय और भक्ति पूर्वक ऋषियों के वचनों को मन लगा कर सुन रहे हैं। यद्यपि पुत्रों के चित्त संयमयुक्त थे, तथापि पिता ने प्रजा-पालन की रीति उन्हें सिखाने के अर्थ उनसे कहा :—

ऋषभदेव—हे वत्सगण! मनुष्यों के लिये तपस्या ही सब से बढ़ कर है। क्योंकि उससे चित्त शुद्ध होता है और चित्त के शुद्ध होने से सब सुख प्राप्त होते हैं। पण्डितों का कहना है कि बड़े लोगों की सेवा करने से मुक्ति मिलती है और स्त्री-सङ्ग नरक का द्वार उन्मुक्त करता है। जो सब को समान जानता है, जो शान्त है, जो क्रोध रहित है, जो सब का मित्र है, जो सदाचारी है। जो भगवान् में प्रीति करता है, जिसकी विषयों एवं स्त्री पुत्रादि से भरे पूरे घर में आसक्ति नहीं है और जो केवल शरीर-यात्रा के निर्वाहार्थ धन के अतिरिक्त अधिक धन पाने के लिये नही भटकता वस्तुतः वही पुरुष बड़ा है। मनुष्य जब इन्द्रियों को चरितार्थ करने के लिये व्यग्र होता है, तभी उसे पाप कर्मों में लिप्त होना पड़ता है।

हे वत्सगण! वास्तव में आत्मा का स्थूल देह नहीं है केवल पाप कर्मों द्वारा ही उसे इस कष्टदायक देह में जन्म लेना पड़ता है। अत. पाप कर्मों से सदा बचना चाहिये। पुरुष जब तक ब्रह्मविद्या का अनुसन्धान नहीं करता तब तक वह अज्ञान से उत्पन्न क्लेशादि को भोगता है और जब तक पुरुष का प्रारब्ध कर्म रहता है, तब तक उसका कर्मात्मक मन

> भी रहता है और यह मन ही बन्धन का कारण है। आत्मा के अविद्याग्रस्त होने पर पूर्व कर्म मन को तदनुरूपरीत्या प्रवृत्त करते हैं।

हे पुत्रो! जब तक भगवान् में पुरुष की प्रीति उत्पन्न नहीं होती तब तक वह देह से नहीं छूटता। स्वार्थ सिद्ध करने में उन्मत्त हो बुद्धिवान् पुरुष जब तक इन्द्रिय चरितार्थ करने को अमङ्गल-साधक नहीं समझ सकता है तब तक अपने स्वरूप को भूल कर और ऐहिक सुख में मोहित हो घर में रह कर सन्तापित होता रहता है। स्त्री पुरुष का परस्पर मिलन उनके हृदय की गाँठ है। इस मिलन ही से गृह, क्षेत्र पुत्र, कन्या आत्मीय जनों के प्रति मनुष्य को "मैं" इस प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है। जब सत्कर्मों से हृदय की दृढ़ गाँठ ढीली पड़ जाती है, तभी मनुष्य स्त्री के सङ्ग से हटता है और अहङ्कार से छूट कर, परम-पद को पाता है।

हे वत्सगण! पण्डित पुरुष धैर्य्यशील, यत्नवान और ज्ञान-वान होकर ब्रह्म स्वरूप परम गुरु भगवान में भक्ति, स्पृहा का त्याग सुख दुःख की उपेक्षा सर्वत्र सब प्राणियों में दुःख सुख का विचार, ज्ञान का अनुसन्धान तपस्या, काम्यकर्म का परि-त्याग भगवान के प्रीत्यर्थ आचरित कर्म भगवान् की कथा नित्य भगवद्भक्तों का सत्सङ्ग, अपने गुणों की वृद्धि और परि-त्याग सब में समान दृष्टि शम गुण, देह में तथा गेह में आत्म बुद्धि का परित्याग, अध्यात्म शास्त्र का अभ्यास, निर्जन में वास मन का रोकना दमन साधुओं में श्रद्धा ब्रह्मचर्य धारण, निर-न्तर कर्त्तव्य साधन वाक्य संयम सर्वत्र भगवान् का ध्यान करने के निमित्त सर्वदा शक्ति—इन सब के द्वारा अहङ्कार की गाँठ

को छेदन करे। मैंने जैसा उपदेश दिया है, सावधान हो वैसे ही योग के द्वारा अज्ञान से उत्पन्न हुए अहङ्कार से मुक्त हो।

जो पिता, गुरु, राजा, नित्य धाम की इच्छा और भगवान् की कृपा की प्रार्थना करते हैं वे अपने अपने पुत्र एवं शिष्य को इस प्रकार का उपदेश दें। अज्ञानाक्रान्त कर्म में रत मनुष्यों को फिर कर्म में न लगावें। मनुष्य इस बात को नहीं जानते कि हमारी भलाई क्यों कर होगी? वे एकान्त भोग की अभिलाषा से विषयों ही में फँसे रहते हैं। तिल भर सुख पाने के आशय से जो अनन्त दु:ख प्राप्त होता है, मूर्ख मनुष्य उसे नहीं जान सकते। इसलिये जिन बुद्धिमान मनुष्यो ने अपनी यथार्थ भलाई को जान लिया है और जिनके चित्त दया से परिपूर्ण हैं, उनमें ऐसा कौन मनुष्य है, जो काम्यकर्म में रत हुए मनुष्य को अविद्या में स्थित करके, उसे फिर उसी दलदल में पटकेगा? अन्धे को कुराह में जाते देख कौन कहैगा कि तू इसी राह से चला जा। ससार रूपी कूप में पड़े हुए मनुष्यों का उद्धार करने की जिनमें सामर्थ्य नहीं है, वे कभी किसी के गुरु, आत्मीय, पिता, माता देवता या पति बनने का यत्न न करें। हे वत्सगण! मनुष्य शरीर भगवान् की इच्छा ही से बना है। धर्म का वास-स्थान शुद्ध सत्व स्वरूप हृदय है। मेरा भी हृदय ऐसा ही है। इसीसे अधर्म को दूर फेंक दिया है। यही कारण है कि मेरा नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) पड़ा है।

हे पुत्रो! तुम मेरे उसी हृदय से उत्पन्न हुए हो। इस लिये तुम सब गर्व को छोड कर, अपने बडे भाई भरत ही को मानो। तुम्हारे इसी कार्य से मेरी शुश्रूषा होगी। चेतन और अचेतन पदार्थों में स्थावर श्रेष्ठ है। जो एक स्थान दूसरे स्थान तक जा सकता है वह स्थावर की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जिनमें ज्ञान शक्ति है,

वह जङ्गम पदार्थ से श्रेष्ठ है और समस्त जगत में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य से प्रमथ, प्रमथ से गन्धर्व, गन्धर्व से सिद्ध और सिद्धों से देवानुचर श्रेष्ठ हैं। देवानुचरों मे दानव, दानवों से देवता श्रेष्ठ हैं। देवताओं में इन्द्र प्रधान हैं। इन्द्र से दक्ष आदि ब्रह्मा जी के सब पुत्र ऊँचे हैं, उनमें शङ्कर सब से प्रधान हैं। ब्रह्मा जी शङ्कर से श्रेष्ठ हैं और विष्णु ब्रह्मा जी से भी श्रेष्ठ हैं। उन्हीं के अंश से मैं हूँ। ब्राह्मण मेरे देवता हैं। मनुष्यों में श्रद्धा सहित ब्राह्मण भोजन कराने पर मुझे जिस प्रकार की तृप्ति होती है अग्नि में हवन करने पर भी वैसी तृप्ति नहीं होती। वेद मेरी मूर्त्ति है, ब्राह्मण इस लोक में उसी वेद का अवलम्ब किये हुए हैं। परम पवित्र सत्त्व, शम, सत्य, अनुग्रह, तितिक्षा, तपस्या और प्रभाव, ये आठ गुण ही ब्राह्मणों के शरीर में रहते हैं। इन सब कारणों से जब कोई भी उनके समान नहीं जान पड़ता, तब उनकी अपेक्षा कौन श्रेष्ठ हो सकता है? मैं अनन्त हूँ। श्रेष्ठ का भी श्रेष्ठ हूँ और स्वर्ग व अपवर्ग का दाता हूँ। अकिञ्चन ब्राह्मण मुझसे किसी वस्तु की प्रार्थना नहीं करते। इसीसे उन्हें न तो सेना चाहिये और न राज्य। ब्राह्मण भगवान में भक्ति करने ही को परम पुरुषार्थ जानते हैं।

हे वत्सगण! स्थावर जङ्गम समस्त प्राणी मेरे वासस्थान हैं। अतएव तुम अहङ्कार रहित होकर सर्वदा दोनों प्रकार की वस्तुओं का सम्मान करो। इससे मेरी पूजा होगी। मेरी पूजा ही से मन, नेत्र, वचन और अन्यान्य इन्द्रिय विषयों का साक्षात् फल मिलता है। भगवान की आराधना के बिना जीव भयङ्कर यमराज की फाँसी से कभी मुक्ति नहीं पा सकता।

ऋषभदेव के पुत्रों ने स्वयं ही शिक्षा प्राप्त की थी, तिस पर भी पिता ने प्रजापालन करने के निमित्त उनको श्रेष्ठ उपदेश

दिया। अनन्तर वे शान्त और उपरत कर्म वाले मुनियों की भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के साथ परमहंस-धर्म सीखने की अभिलाषा से, उन्होंने अपने पुत्रों में सर्वज्येष्ठ और सर्वश्रेष्ठ भरत को पृथिवी-पालन का भार सौंप दिया। वे स्वयं अग्निहोत्र व्रत को धारण कर, ब्रह्मावर्त्त से संन्यासाश्रय में चले गये। उन्मत्त के समान बालों को खोल, एवं मौनव्रत धारण कर उन्होंने अवधूत वेश धारण किया। जब कोई मनुष्य उनके पास बातचीत करने जाता, तब वे जड, गूङ्गे, अन्धे, वहरे, पिशाच व उन्मत्त के समान मौन हो जाते थे। वे इस वेश में पृथिवी पर विचरण करने लगे। उन्होंने नगर, ग्राम, आकर, कृषकपल्ली, बाग, डेरे, गोठ, सराय, पर्वत, वन और आश्रम आदि अनेक स्थानों में भ्रमण किया। मार्ग में दुराचारी लोग भय दिखा कर, ताडना करके, शरीर पर विष्टा, मूत्र और थूक कर व धूल पत्थर फेंक कर, तथा कटुवचन बोल कर उनको विरक्त करने लगे। परन्तु जिस प्रकार गजपति साधारण कीड़े आदि को तुच्छ समझता है, वैसे ही उन्होंने भी इन समस्त उपद्रवों को तुच्छ समझा, क्योंकि उस समय उनकी मन की गति दूसरी ही ओर दौड रही थी। वे यथार्थ में सत् स्वरूप थे। उनके हाथ पाँव आदि सभी अङ्ग अत्यन्त कोमल और मनोहर शोभायुक्त थे। वे स्वभाव ही से सुन्दर थे। उनका मुख सदा प्रफुल्लित रहता था। उनके दोनों नेत्र खिले हुए कमल के समान लाल वर्ण के थे। उनके नेत्रों के दोनों तारे देखने वाले के सन्ताप का हर लिया करते थे। दोनों कानों की गढन भी सुन्दर थी। कपाल, कण्ठ और नासिका भी सुन्दर थी। अतएव उनकी सुन्दरता को देख कर, यद्यपि नगर की स्त्रियों का मन चञ्चल हो जाता था, तथापि उनके धूलधूसरित मलिन वेश को देखने से वे ऐसे जान पडते थे मानों ग्रह से ग्रसा हुआ चन्द्रमा हो।

कुछ दिनों बाद जब ऋषभदेव ने समझा कि सब लोग योग साधन के प्रतिकूल हो रहे हैं, तब उन्होंने अजगर व्रत धारण किया। क्योंकि दुष्टों का दमन करना उन्होंने उचित न समझा। वे एक ही स्थान में रह कर भोजन, जलपान करते थे और वहीं मलमूत्र त्यागते थे। उनका शरीर उसी मलमूत्र से सना रहता था, किन्तु दुर्गन्धि नहीं आती थी। इस प्रकार वे पशुपक्षी की तरह आचरण करने लगे।

अनन्तर ऋषभदेव जी ने किस प्रकार मरना चाहिये, योगियों को यह दिखाने के लिये जीवात्मा का अभेद करके देहाभिमान त्याग दिया। जिस प्रकार कुम्हार का चाक एक बार ज़ोर से चला देने पर कुछ समय तक अपने आप चलता रहता है उसी प्रकार पूर्व संस्कारों के वश ऋषभदेव भी पृथिवी पर घूमते रहे। वे एक दिन दक्षिण कर्णाटक के कोंकण, वेंकट और कुटक देशों में घूमते फिरते कुटकाचल के निकट पहुँचे। वहाँ कितने ही पत्थर के टुकड़े अपने शरीर पर डाल उन्मत्त की तरह आचरण करने लगे। फिर बालों को खोल नङ्गे हो विचरने लगे। इतने में उस वन के समस्त बाँसों ने वायु के वेग द्वारा परस्पर की रगड़ से उत्पन्न अग्नि से उनके शरीर के साथ समस्त वन को जला कर भस्म कर दिया।

इसके बाद जब कलिकाल में अधर्म प्रधान हुआ, तब कोंकण वेंकट और कुटक देश के राजा अर्हत ने ऋषभदेव के आचरणों को आदर्श मान कर उनका अनुसरण किया और अभाग्य से मोहित हो निर्भय अपने धर्म को छोड़ निज बुद्धिबल से असङ्गत पाषण्ड धर्म का प्रचार किया। कलियुग में दैवी माया के प्रभाव से मोहित मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपने अपने शौच और सदाचारों को छोड़, अपनी इच्छानुसार न तो स्नान करेंगे,

न आचमन करेंगे, न शौच के नियम पालन करेंगे। अधर्म प्रधान कलि के प्रभाव से बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण वेद की, नारायण की और ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ मनुष्यों की लोग हँसी करेंगे। साथ ही निरवच्छिन्न, अज्ञान, भय, अवेद मूलक अपनी इच्छा की प्रवृत्ति ही में विश्वास करके अपने आप ही घोर अन्धकार के कुए में डूबेंगे।

सच बात तो यह है कि ऋषभदेव जी का अवतार राजसिक मनुष्यों को शिक्षा देने के लिये हुआ था। उनके अवतार के कुछ श्लोक प्रसिद्ध हैं। उनका भावार्थ यह है:—

[१] अहो! सप्तसागर से घिरी पृथिवी के द्वीप और वर्षों में इस भारतवर्ष ही का अधिक पुण्य है क्योंकि भारतवासी मनुष्य भक्तवत्सल भगवान् के ऋषभादि अनेक अवतारों के मङ्गलदायक कर्मों का कीर्त्तन करते हैं।

[२] अहो! प्रियव्रत के वंश का कैसा निर्मल यश है। इस वंश में स्वयं भगवान् ने अवतार लेकर मुक्ति साधन विषयों का अनुष्ठान किया था। दूसरे भोगी लोग क्या उन जन्म रहित भगवान् की ओर गमन करने में भी समर्थ होंगे?

शिक्षा।

ऋषभदेव के उपाख्यान में उनके वे उपदेश जो उन्होंने अपने पुत्रों को दिये थे, बड़े शिक्षाप्रद और मनन करने योग्य हैं। उनके जीवन चरित की आलोचना से यह शिक्षा मिलती है कि वे स्वयं सांसारिक सब कार्य करने पर भी उन कर्मों के फल

की मृगतृष्णा में नहीं फँसे थे। सांसारिक सुख भोगों से बढ़ कर जो पारलौकिक अखण्ड एवं अनिर्वचनीय आनन्द है उसकी प्राप्ति ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था।

उनके जीवन के अन्तिम भाग के आचरण का अनुकरण सांसारिक पुरुषों को तब तक न करना चाहिये जब तक वे फल के अनुरूप कर्म करना चाहते हैं।
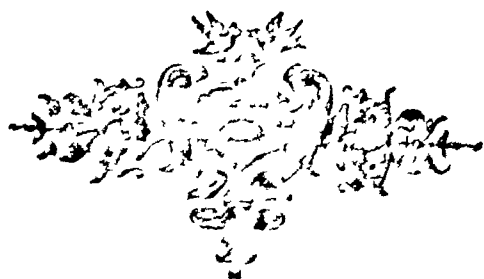
३२-गुरु आयोदधौम्य के शिष्यों का उपाख्यान।

[गुरुभक्ति की बानगी।]

भारत श्रेष्ठ महाराज जनमेजय ने जब तक्षशिला नामक देश जीता तब उस समय आयोदधौम्य नामक एक ऋषि वहाँ रहते थे। उनके आरुणि उपमन्यु और वेद नामक तीन शिष्य थे। एक दिन महर्षि आयोदधौम्य ने अपने पञ्जाबी शिष्य आरुणि से कहाः—

आयोदधौम्य—वत्स! यदि खेत की मेंड जल्दी से न बाँधी जायगी, तो बड़ी हानि होगी।

आरुणि ने गुरु की आज्ञा पाते ही खेत में जाकर मेंड़ बाँधने का यत्न किया किन्तु जल प्रवाह के वेग के कारण उसके सब यत्न विफल हुए। अन्त में अन्य उपाय न देख, वह स्वयं जल रोकने के लिये खेत की सीमा के पास लेट रहा।

जब बहुत देर उसे गये हो गयी और वह लौट कर न आया तब गुरु जी ने अपने अन्यान्य शिष्यों से पूँछा—

गुरु—आरुणि मेरे कहने से खेत की मेंड़ बाँधने गया था उसे गये बहुत देर हुई पर अभी तक लौट कर नहीं आया। चलो देखें तो वह कर क्या रहा है।

यह कह कर शिष्यमण्डली को साथ लेकर गुरु जी उस खेत की ओर गये जहाँ उन्होंने पहले आरुणि को भेजा था। खेत के समीप पहुँच कर गुरु जी ने आरुणि का नाम लेकर, जोर से पुकारा। आरुणि अपने पूज्यपाद उपाध्याय की बोली पहचान कर, झट उठ खड़ा हुआ और बोला,—

आरुणि—गुरुदेव! मुझे यहाँ आये देर हुई मैंने बहुत चाहा कि खेत का पानी बाहिर न निकले, पर वह किसी प्रकार बन्द न रुक पाया तब मैंने स्वयं लेट कर अपने शरीर से उसे रोका। अभी आपका बोल सुन कर मैं उठ कर चला आया हूँ और पानी निकल रहा है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ और अब आप मुझे आज्ञा दें कि अब मैं क्या करूँ।

गुरु—वत्स! तुमने काय मनोवाक्य से मेरी आज्ञा का पालन किया इससे तुम पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ तुम्हारा मङ्गल हो और समग्र वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुमको आजाय और तुम मेंड़ को तोड़ कर उठ आये हो इसमें मैं तुम्हारा नाम उद्दालक रखता हूँ। अब तुम जहाँ जाना चाहो जा सकते हो।

इसके बाद आरुणि ने पूज्यतम उपाध्याय महर्षि आयोद-धौम्य को प्रणाम किया और यथेष्ट गुरु दक्षिणा दे अपने घर को गमन किया।

महर्षि आयोदधौम्य के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था। एक दिन महर्षि ने उससे कहा—"वत्स ! तुम हमारी गौ चरा लाया करो। गुरु-भक्ति शिष्य उपमन्यु भी उपाध्याय के आदेशानुसार गुरु की गौ चराने लगा। वह गौओं को लेकर नित्य सवेरे जाता और सायङ्काल को लौट कर गुरु को प्रणाम करता और चुपचाप बैठा रहता।

एक दिन गुरुजी की दृष्टि उपमन्यु के शरीर की मुटाई पर पड़ी। वे कहने लगे:—

गुरुजी—वत्स उपमन्यु ! हम देखते हैं तुम बहुत मोटे होते जाते हो, यह तो बतलाओ तुम खाते क्या हो ?

उपमन्यु—गुरुदेव ! भीख माँग कर जो कुछ पाता हूँ उसीसे जीविका निर्वाह करता हूँ।"

गुरुजी—अब आज से बिना मेरी आज्ञा के भिक्षान्न मत खाना।

उपमन्यु ने इस पर कहा—"बहुत अच्छा!" और उस दिन से वह भिक्षा माँग कर जो कुछ पाता सो गुरुजी के सामने रख दिया करता। गुरुजी भिक्षान्न रखवाकर उससे कह दिया करते "अच्छा इसे यहीं रख दो और तुम गौएँ चराने जाओ। तब बिचारा उपमन्यु दुबारा भिक्षा के लिये जाता और जो कुछ पाता उसीसे अपना पेट भर लिया करता।

उपमन्यु इसी तरह नित्य सवेरा होते ही गौएँ चराने निकल जाता, सन्ध्या होते होते गुरुगृह पर लौट आता और गुरुदेव को नमस्कार कर यथारीति एक ओर बैठ जाता। तिस पर भी गुरुजी ने उसे पूर्ववत् मोटा ताज़ा देख एक दिन फिर उससे कहा:—

गुरुजी—बेटा उपमन्यु! तुम्हारा सारा भिक्षान्न तो हम ले लिया करते हैं। तुम अपना पेट क्योंकर भरा करते हो?

उपमन्यु—गुरु! मैं पहिली भिक्षा का अन्न तो आपको समर्पण कर दिया करता हूँ और दूसरी बार जाकर जो कुछ भिक्षा मिलती है उसीसे अपना निर्वाह किया करता हूँ।

गुरुजी बेटा! यह तो गुरुकुल वासियों का कर्तव्य नहीं है, तुम्हारे ऐसा करने से अन्यान्य भिक्षोपजीवियों की वृत्ति में बाधा पड़ने की सम्भावना है, इससे जान पड़ता है कि तुम बड़े लोभी हो।

यह सुन उपमन्यु ने कृतापराध मनुष्य की तरह अपने कान पकड़ आगे ऐसा न करने की प्रतिज्ञा की। उपमन्यु पूर्ववत् फिर गौएँ चराने लगा। अब वह सारे दिन गौएँ चराता और गोदुग्ध-पान कर अपना पेट भरता।

उपाध्याय ने तब भी उसे मोटा ताज़ा देख एक दिन उससे कहा

गुरु—वत्स! तुम भिक्षा माँग कर जो लाते हो वह सब हम ले लिया करते हैं दूसरी बार भिक्षा माँगने तुम जाते नहीं, तिस पर भी हम देखते हैं कि तुम्हारे शरीर की मोटाई कमती नहीं होती। यह तो बतलाओ इन दिनों तुम क्या भोजन किया करते हो?

उपमन्यु—प्रभो! इन गौओं के दूध से अपना पेट भर लिया करता हूँ।'

गुरु—जब तुमने हमसे इन गौओं के दूध पीने की अनुमति नहीं ली, तब तुम क्योंकर पी लिया करते हो। हमारी आज्ञा बिना इनका दूध पीना ठीक नहीं।

उपमन्यु—बहुत अच्छा गुरुजी! अब ऐसा न करेंगे।

अगले दिन से फिर उपमन्यु पूर्ववत् गौएँ चराने नित्य जाते और सन्ध्या होते ही आश्रम में लौट आते और गुरुजी को प्रणाम कर एक ओर बैठ जाते थे। उस दिन से उपमन्यु ने अपने पेट भरने की यह व्यवस्था कर ली थी कि दूध पीते समय बछड़ों के मुख से जो फेन गिरता था उसे वे उठा कर खा लिया करते थे। ऐसा करते करते जब कई दिन बीत गये और उपमन्यु के शरीर की स्थूलता न घटी, तब फिर एक दिन गुरुजी ने उनसे पूँछा—

गुरुजी—वत्स उपमन्यु! तुम न तो भिक्षान्न खाते हो और न दूसरी बार भिक्षा माँगने जाते हो और न गौओं का दूध ही पीते हो, तिस पर भी तुम ज्यों के त्यों मोटे ताज़े बने हो, यह तो बतलाओ आज कल तुम क्या खाया करते हो?

उपमन्यु—परमाराध्य गुरुदेव! बछड़े जिस समय दूध पीने लगते हैं उस समय जो उनके मुख से फेन गिरता है उसीसे मैं अपना पेट भर लिया करता हूँ।

गुरुजी—बेटा! ये बछड़े बड़े दयालु हृदय के हैं। ये तुम पर दया कर जान बूझ कर बहुत सा फेन मुख से निकाल दिया करते हैं और अपना पेट काट कर तुम्हारा पेट भरते हैं। इसलिये फेन पान करना छोड़ दो।

उपमन्यु ने यह सुन और प्रसन्न चित्त हो कहा—"गुरुदेव ! अब से ऐसा ही करूँगा और उस दिन से उपमन्यु ने किया भी ऐसा ही—और नियमित रूप से पूर्ववत् गौएँ चराने लगा। अब न तो उसे भिक्षान्न मिलता है न दूध मिलता है और न दूध का फेन ही प्राप्त होता है। अब वह ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे कि किसी के आहार में टोटा पड़े, किन्तु मनुष्य बिना आहार कितने दिनों तक रह सकता है। एक दिन, दो दिन तीन दिन, इसी प्रकार निर्जल निराहार रहते बीत गये तब उपमन्यु से न रहा गया। भूख के मारे विकल हो उसने आकोण के पत्ते खा लिये। उनके खाने से उपमन्यु के नेत्रों में रोग उत्पन्न हो गया और वह अन्धा हो गया। अन्धा होकर वह वन में घूमता फिरता एक अन्धे कुएँ में गिर पड़ा।

धीरे धीरे सन्ध्या हुई। उपमन्यु के आश्रम में पहुँचने की वेला निकल गयी, तब भी जब उपमन्यु लौट कर आश्रम में न गया तब गुरु जी के मन में चिन्ता उत्पन्न हुई। वे अपने अन्य शिष्यों से कहने लगे— ओ हो! क्या कारण है जो उपमन्यु आज अभी तक लौट कर नहीं आया ।

शिष्यगण—उपमन्यु गौएँ चराने वन में गया था जान पड़ता है वह वहीं होगा।

गुरु जी—मैंने उपमन्यु को सब प्रकार के पदार्थ खाने का निषेध कर दिया था। इसलिये उसे चल कर खोजना हमारा कर्तव्य है।

यह कह कर शिष्यों सहित आयोदधौम्य वन की ओर प्रस्थित हुए।

वन में पहुँच कर गुरु जी चिल्ला चिल्ला कर कहने लगे— बेटा उपमन्यु ! कहाँ हो ? जल्दी आओ। गुरुभक्ति परायण

उपमन्यु ने अपने गुरु की बोली सुन कर और चिल्ला कर कहा —

उपमन्यु—गुरुदेव! मैं इस कुएँ में गिर पडा हूँ।

गुरु जी—क्यों बेटा! कुएँ में कैसे गिरे?

उपमन्यु—गुरुदेव! मैंने क्षुधा से विकल हो भूलकर अकौआ के पत्ते खा लिये, जिससे मैं अन्धा हो गया और घूमते फिरते इस कुएँ में गिर पडा।

गुरु जी—बेटा! देव चिकित्सक अश्विनी-कुमारों की स्तुति करो। वे प्रसन्न होकर तुम्हारा रोग खो देंगे और तुम पूर्ववत् देखने लगोगे।

गुरुजी के उपदेशानुसार ऋग्वेद विहित वाक्य द्वारा उपमन्यु ने देवचिकित्सक अश्विनीकुमारों की स्तुति की। उपमन्यु ने नित्य सत्य वेद में विश्वास कर और भक्तिपूर्ण मन से स्तव किया। एक तो गुरुदेव के वचन में पूर्ण विश्वास, दूसरे एकाग्र मन से वेदविहित विधानानुसार अनुष्ठान करने से उपमन्यु की अभीष्ट सिद्धि क्यों न होती। अवश्य होनी ही चाहिये।

उपमन्यु का स्तव सुन अश्विनीकुमारों ने प्रसन्न होकर उपमन्यु के नेत्रों का रोग हर लिया और बडे आदर के साथ बोले —

अश्विनीकुमार—वत्स! हम तुम्हारे स्तव को सुन बहुत प्रसन्न हुए। हम तुम्हें यह चूर्ण देते हैं, इसे तुम खा लो।

उपमन्यु—देवद्वय! आप असत्य कभी नहीं बोलते, किन्तु मैं इसे बिना गुरु जी को निवेदन किये नहीं खा सकता।

अश्विनीकुमार—पहले तुम्हारे उपाध्याय ने हमारा स्तव किया था। हमने प्रसन्न होकर यही चूर्ण उन्हें भी

दिया था। पर उन्होंने तो गुरु को निवेदन किये बिना ही उसे खा लिया था। तुम्हारे उपाध्याय ने जैसा किया वैसा तुम भी करना।

उपमन्यु—हे अश्विनीकुमार-द्वय ! मैं आपसे बड़ी नम्रता पूर्वक निवेदन करता हूँ कि मैं गुरु को समर्पण किये बिना कोई वस्तु नहीं खा सकता।

अश्विनीकुमार—तुम्हारी ऐसी अविचल गुरुभक्ति देख कर, हम बहुत प्रसन्न हुए। तुम्हारे गुरु का दण्ड लोहे का है, इसीसे वे अपने शिष्यों के प्रति निष्ठुर व्यवहार करते हैं, किन्तु तुम्हारा दण्ड सुवर्ण का होगा। तुम सदा अपने शिष्यों पर दयावान् बने रहोगे। वत्स ! तुम्हारी उत्तम दिव्य दृष्टि हो और तुम्हारा कल्याण हो।

उपमन्यु को फिर पूर्ववत् भली भाँति दिखलाई पड़ने लगा। वे कूप में से निकल आये और गुरु जी के पास जाकर, उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम कर हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। फिर गुरु जी के पूछने पर उन्होंने सारा हाल कहा। इसे सुन गुरु जी बहुत प्रसन्न हुए और बोले—

गुरु जी—वत्स ! अश्विनीकुमारद्वय देवता हैं। उनकी बात कभी अन्यथा नहीं हो सकती। उनके वर से जैसे तुम्हें दृष्टि मिली है उसी प्रकार अवश्य ही उनके कथनानुसार तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हारी गुरुभक्ति देख कर हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं और आशीर्वाद देते हैं कि समग्र वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हें आ जाय। तुम्हारा गुरुकुलवास सफल हुआ। अब तुम जहाँ जाना चाहो जा सकते हो।

यह सुन उपमन्यु ने अपने को कृतकृत्य माना और गुरु से विदा हो वे अपने घर लौट गये।

आयोदधौम्य के तीसरे शिष्य का नाम था वद। उपाध्याय ने उसकी परीक्षा के लिये उनको बड़े भारी भारी काम सौंपे। एक दिन उन्होंने वेद से कहाः -

गुरु जी—वत्स वेद! तुम कुछ दिनो तक हमारे घर मे रह कर गुरु शुश्रूषा करो, तुम्हारा मङ्गल होगा।

वद ने कहा— जो आज्ञा' और बहुत दिनो तक गुरुगृह में रह कर, गुरु शुश्रूषा करने लगे। वेद ने गुरु की ऐसी शुश्रूषा की कि अपने को भुला दिया। वे सदा गुरु की आज्ञा-पालन ही करने लगे।

जिस प्रकार बेल सदा बोझ ढोने में लगे रहते हैं वैसे ही वेद भी गुरु की आज्ञा का पालन करने में लगे रहते थे। जाड़ा, गरमी, बरसात का कुछ विचार न कर, भूख, प्यास, निद्रा को जीत कर जो गुरु कहते वही वेद किया करते थे। चाहे कैसा ही कठिन से कठिन काम उन्हें सौंपा जाता, पर वे कभी कन्धा नहीं डालते थे।

इस प्रकार गुरु शुश्रूषा करते करते बहुत दिन बीत गये, तब उपाध्याय ने वेद पर प्रसन्न होकर उनसे कहाः—

गुरु जी—वत्स वेद! तुमने हमारी मन लगा कर सेवा की है। इससे हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं कि तुम सर्वज्ञ हो। वेद में तुम्हारा अप्रतिहत अधिकार हो। कल्याण तुम्हारा चिर सहचर हो।

महर्षि आयोदधौम्य के प्रिय शिष्य वेद की इस प्रकार अभीष्टसिद्धि हुई। अनन्तर वेद उपाध्याय की अनुज्ञा लेकर

अपने घर गये और गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। गार्हस्थ्याश्रम में रह कर वेद सदा वेदाध्ययन और वेदाध्यापन में लगे रहते थे। वे जो काम करते उसमें प्राणीमात्र का हित होता था। वे बड़े दयालु और समदर्शी थे। सब प्राणियों पर समान भाव से वे दया किया करते थे। उनके तीन शिष्य थे। वे अपने शिष्यों की न तो कभी परीक्षा लेते और न कभी उन्हें ऐसे भारी काम में जोतते जिससे उनके शिष्यों को कष्ट मिले या क्लेश हो। जान पड़ता है वेद को गुरुकुल में रह कर शिष्यों के दुःखों का भली भाँति परिचय मिल चुका था। इसीसे वे अपने शिष्यों को कष्ट देना उचित नहीं समझते थे। शिष्यों को क्लेश न देकर और उनको सत्पथ में प्रवृत्त कर, वे महायशा और महातपा कहला कर प्रसिद्ध हुए।

इसमें सन्देह नहीं आयोदधौम्य का बाहिरी बर्ताव शिष्यों के साथ कठोर था किन्तु साथ ही उनका मन बड़ा कोमल था और दया से भरा था। इस बात के प्रमाण उनके चरित में अनेक पाये जाते हैं। उद्दालक या उपमन्यु को न देख कर उनका विचलित होना क्या उनकी शिष्य परायणता का परिचायक नहीं है? उनके मन में दया और स्नेह का अविराम स्रोत प्रवाहित होता था। इसका प्रमाण उनके स्नेहसिक्त गर्वित शिष्यों के चरित में यथेष्ट पाया जाता है। ऐसा महती शक्ति न होने से साधारण पुरुष कभी गुरु नहीं हो सकता। साधारण दृष्टि से जो कठोरता देख पड़ती है वह शिष्य को चरित्रवान बनाने के तथा पवित्रता रक्षार्थ के असल में गुरु की बड़ी कृपा है।

शिक्षा।

(१) विद्यार्थियो को आरुणि, उपमन्यु और वेद की तरह गुरु-भक्त होना चाहिये।

(२) गुरु के प्रसन्न होने पर जो बात वर्षों में आती है वह पल मारते आ जाती है।

(३) गुरु यदि कठोर वर्ताव करे, तो शिष्य को घबड़ाना न चाहिये क्योंकि गुरु कभी कोई ऐसा वर्ताव शिष्य के साथ नही करता, जिससे शिष्य की हानि हो।

(४) आयोद्धौम्य ने उपमन्यु का आहार बन्द किया, उसका कारण यह था कि आहार बन्द करने से उसके शरीर की स्थूलता कम हो। क्योंकि स्थूल शरीर के लोग सुस्त और अकर्मण्य हो जाते हैं।

---

३३ दक्ष और सती का उपाख्यान।

अनुचित अपमान का परिणाम।

एक समय संसार उत्पन्न करने वालों के यज्ञस्थल में प्रधान प्रधान देवता ऋषि मुनि और अग्नि अपने अनुचरों के साथ पधार बैठे थे। उतने में साक्षात् सूर्य के समान तेजयुक्त प्रजापति दक्ष ने उस सभा में प्रवेश किया। उनके शरीर की कान्ति से सारी सभा चमक उठी। उनको सभा में आते देख सभास्थ सदस्य सम्मान प्रदर्शनार्थ अपने अपने आसन छोड़ कर उठ खड़े हुए। केवल योगेश्वर शिव और कमलयोनि ब्रह्मा अपने अपने आसनों पर ज्यों के त्यों बैठे रहे। इसका कारण यह था कि वे उस समय अन्यमनस्क थे और उनका ध्यान दक्ष की कान्ति की ओर था। दक्ष ने सभास्थ सदस्यों का अभिवादन ग्रहण कर लोकगुरु ब्रह्मा को प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पा कर आसन पर बैठ गये।

किन्तु शिव ने दक्षप्रजापति का अभ्युत्थान न दिया, इसलिये दक्ष ने इसमें अपना अपमान समझा और शिव जी की इस करतूत पर अप्रसन्न हुए। कुढ़ कर वाद भौंहें तान और टेढ़ी दृष्टि से शिव जी को देख कर कहने लगे —

दक्ष — हे ब्रह्मर्षि एवं देवतागण! मैं अज्ञानता और मत्सरता छोड़ कर केवल साधुओं के सदाचार की व्याख्या

करता हूँ। उसे आप लोग मन लगा कर सुनें इस निर्लज्ज (महादेव) ने कर्त्तव्य का अनुष्ठान न करके साधुओं के आचरित मार्ग को दूषित किया है। इसने अपनी इस निन्द्य करतूत से लोकपालों के यश को नष्ट किया है। यह मेरा शिष्य इसलिये है कि इसने मेरी सावित्री तुल्य कन्या का, ब्राह्मणों और अग्नि के सामने पाणिग्रहण किया है। किन्तु इस वन्दर के समान आँखों वाले ने मेरी कन्या का पाणिग्रहण करके भी उठ कर मेरा सम्मान नहीं किया। हा! जिस प्रकार अनिच्छा पूर्वक शूद्र को वेदवाक्य दान किया जाता है, उसी प्रकार मैंने इस क्रियाहीन अपवित्र अभिमानी और शिष्टजनों की मर्य्यादा को भङ्ग करने वाले को कन्या दी। यह अत्यन्त भयङ्कर भूत प्रेतों को साथ रखता है और उन्मत्त की तरह कभी हँसता कभी चुप रहता है। चिताभस्म से स्नान करता है, वाल खोले रहता है। मुण्डमाल और प्रेत अस्थि इसके गले का गहना है। यद्यपि इसका नाम शिव है! तथापि इसके समान अशिव कोई नहीं है। यह स्वयं उन्मत्त है और उन्मत्त ही इसे प्यार करते हैं।

दक्ष ने यद्यपि बड़े कटु वचन कहे तथापि योगिराज आशुतोष शिव अप्रसन्न न हुए और ज्यों के त्यों शान्तचित्त से बैठे रहे। यह देख दक्ष का क्रोध और भड़का और हाथ में जल लेकर वे शिव जी को शाप देने के लिये उद्यत हुए और कहने लगे— यह शिव देवताओं में अधम है। इस लिये देवयज्ञ में इन्द्र और विष्णु आदि के साथ इसको भाग नहीं मिलेगा।"

उस समय उस सभा में उपस्थित प्रधान प्रधान सदस्यों के बार बार मना करने पर भी दक्ष ने क्रोध में भर शिव को शाप दिया और आग पर पैर रखते, सभामण्डप से उठ कर चले गये।

शिव की शान्ति और अल्प अपराध के लिये इतना भारी दक्ष का शाप सुन शिव के अनुचर नन्दी के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये। उसने कुपित हो दक्ष को और जिन ब्राह्मणों ने शिव की निन्दा सुनी थी उनको शाप दिया। नन्दी ने कहा —

नन्दी—जो अज्ञानी इस तुच्छ देह को उत्तम समझ कर भिन्न दृष्टि से संसार के आदि कारण भगवान् से द्वेष करता है, वह परमार्थ वस्तु से विमुख हो और उसकी बुद्धि वेदोक्त अर्थवाद में नष्ट हो। दक्ष शरीर ही को आत्मा जाने। वह आत्मा का यथार्थ तत्त्व भूल कर पशु तुल्य हो। उसका मुँह बकरे के समान हो। वह अविद्या ही का तत्त्व विद्या समझे। ये शिवद्वेषी ब्राह्मण कर्म में आसक्त हों, गर्वमत्त हो शरीरादि पुष्ट करने के निमित्त तपस्या और व्रत का अनुष्ठान करें, धन शरीर और इन्द्रिय सम्भोग से सन्तुष्ट हों और मांगते हुए घूमें।

ब्राह्मणों के प्रति नन्दी का ऐसा शाप सुन कर ब्रह्मर्षि भृगु ने दुस्तर ब्रह्मदण्ड रूपी शाप दिया:—

भृगु—जो शिव का व्रत धारण करेंगे अथवा उनके अनुवर्त्ती होंगे, वे शास्त्रविरुद्ध धर्माचरणी होंगे। और पाषण्डी समझे जायेंगे। शिव दीक्षा से दीक्षित होने पर पुरुष की पवित्रता नष्ट होगी और बुद्धि बिगड़ेगी। वे जटाभस्म और हड्डी धारण करेंगे और सुरा एवं आसव ही का आदर करेंगे।

भगवान् भूतभावन महादेव भृगु का शाप सुन उद्विग्न हुए और अपने अनुचरों सहित सभामण्डप से उठ कर चले गये।

ससुर और दामाद में इस प्रकार बहुत दिनों तक परस्पर वाद विवाद होता रहा। अनन्तर ब्रह्माजी ने दक्ष को जब समस्त प्रजापतियों का अधिपति बनाया, तब वह अन्य देवताओं को मारे अभिमान के तुच्छ समझने लगा। उसने राजसूय यज्ञ समाप्त कर बृहस्पति यज्ञ का आरम्भ किया। उस यज्ञ में सम्पूर्ण देवर्षि, ब्रह्मर्षि, पितर और देवताओं की पूजा की गयी। उनकी स्त्रियों ने भी अपने अपने स्वामी के साथ यथोचित सम्मान लाभ किया। आकाशचारी उस यज्ञ की बड़ाई करते हुए आकाश में घूमने लगे। विश्वमाता सती ने सब के मुखों से पिता के यज्ञ महोत्सव की बात सुनी और देखा कि गृह के चारों ओर घूमती फिरती तथा सुन्दर वेश बनाये गन्धर्वों की स्त्रियाँ अपनी अपनी दासियों के साथ विमान में बैठ कर जा रही हैं। यह देख सती का मन ललचाया और उन्होंने बड़ी नम्रता से अपने पति से कहाः—

सती—हे नाथ! आपके ससुर प्रजापति दक्ष ने यज्ञ महोत्सव आरम्भ किया है। यह देखिये, देवता आमंत्रित हो उस यज्ञ में जा रहे हैं। अत यदि आपकी अनुमति हो तो चलिये हमभी यज्ञोत्सव देख आवें। मेरी अन्य बहिनें भी अपने पतियों के साथ वहाँ अवश्य आवेंगी इसलिये मेरी भी अभिलाषा है कि आपके साथ मैं भी वहाँ जाऊँ और माता, पिता, भाई, बहिनों आदि से मिलूँ भेंटूँ।

हे शिव! आप देखते हैं यह अत्याश्चर्यमय त्रिगुणात्मक संसार आपही की माया से निर्मित है, किन्तु

उस समय उस सभा में उपस्थित प्रधान प्रधान सदस्यों के बार बार मना करने पर भी, दक्ष ने क्रोध में भर शिव को शाप दिया और आग पर पैर रखते, सभामण्डप से उठ कर चले गये।

शिव की शान्ति और अल्प अपराध के लिये इतना भारी दक्ष का शाप सुन शिव के अनुचर नन्दी के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये। उसने कुपित हो दक्ष को और जिन ब्राह्मणों ने शिव की निन्दा सुनी थी उनको शाप दिया। नन्दी ने कहा —

नन्दी—जो अज्ञानी इस दक्ष देह को उत्तम समझ कर, भिन्न दृष्टि से संसार के आदि कारण भगवान् से द्वेष करता है, वह परमार्थ वस्तु से विमुख हो, और उसकी बुद्धि वेदोक्त अर्थवाद से नष्ट हो। दक्ष शरीर ही को आत्मा जाने। वह आत्मा का यथार्थ तत्व भूल कर पशु तुल्य हो। उसका मुँह बकरे के समान हो। वह अविद्या ही को तत्व विद्या समझे। ये शिवद्वेषी ब्राह्मण, कर्म में आसक्त हों, सर्वभक्षक हों, शरीरादि पुष्ट करने के निमित्त तपस्या और व्रत का अनुष्ठान करें, धन, शरीर और इन्द्रिय सम्भोग से सन्तुष्ट हों और माँगते हुए घूमें।

ब्राह्मणों के प्रति नन्दी का ऐसा शाप सुन कर, ब्रह्मर्षि भृगु ने दुस्तर ब्रह्मदण्ड रूपी शाप दिया:—

भृगु—जो शिव का व्रत धारण करेंगे अथवा उनके अनुवर्त्ती होंगे, वे शास्त्रविरुद्ध धर्माचरणी होंगे। और पाषण्डी समझे जायँगे। शिव दीक्षा से दीक्षित होने पर, पुरुष की पवित्रता नष्ट होगी और बुद्धि बिगड़ेगी। वे जटाभस्म और हड्डी धारण करेंगे और सुरा एवं आसव ही का आदर करेंगे।

भगवान् भूतभावन महादेव भृगु का शाप सुन उद्विग्न हुए और अपने अनुचरों सहित सभामण्डप से उठ कर चले गये।

ससुर और दामाद में इस प्रकार बहुत दिनों तक परस्पर वाद विवाद होता रहा। अनन्तर ब्रह्माजी ने दक्ष को जब समस्त प्रजापतियों का अधिपति बनाया, तब वह अन्य देवताओं को मारे अभिमान के तुच्छ समझने लगा। उसने राजसूय यज्ञ समाप्त कर बृहस्पति यज्ञ का आरम्भ किया। उस यज्ञ में सम्पूर्ण देवर्षि, ब्रह्मर्षि, पितर और देवताओं की पूजा की गयी। उनकी स्त्रियों ने भी अपने अपने स्वामी के साथ यथोचित सम्मान लाभ किया। आकाशचारी उस यज्ञ की बड़ाई करते हुए आकाश में घूमने लगे। विश्वमाता सती ने सब के मुखों से पिता के यज्ञ महोत्सव की बात सुनी और देखा कि गृह के चारों ओर घूमती फिरती तथा सुन्दर वेश बनाये गन्धर्वों की स्त्रियाँ अपनी अपनी दासियों के साथ विमान में बैठ कर जा रही हैं। यह देख सती का मन ललचाया और उन्होंने बड़ी नम्रता से अपने पति से कहा:—

सती—हे नाथ! आपके ससुर प्रजापति दक्ष ने यज्ञ महोत्सव आरम्भ किया है। यह देखिये, देवता आमंत्रित हो उस यज्ञ में जा रहे हैं। अत यदि आपकी अनुमति हो तो चलिये हमभी यज्ञोत्सव देख आवें। मेरी अन्य बहिनें भी अपने पतियों के साथ वहाँ अवश्य आवेंगी इसलिये मेरी भी अभिलाषा है कि आपके साथ मैं भी वहाँ जाउँ और माता, पिता, भाई बहिनों आदि से मिलूँ भेंटूँ।

हे शिव! आप देखते हैं यह अत्याश्चर्यमय त्रिगुणात्मक संसार आपही की माया से निर्मित है, किन्तु

हे नाथ! हम अबला स्त्री जाति है, उत्कण्ठित होने का हमारा स्वभाव है। जन्म भूमि देखने की मुझे उत्कट उत्कण्ठा है। आपका जन्म नही है इससे आप बन्धुवियोग का दु ख नही जानते। हे नीलकण्ठ! देखिये, जिन स्त्रियों का प्रजापति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है वे स्त्रियॉ भी जा रही है। पिता के घर उत्सव सुन कर किस कन्या का मन उत्सुक न होगा। बन्धु, स्वामी, गुरु और पिता के घर विना बुलाये भी जाना चाहिये। इस कारण हे नाथ' प्रसन्न हो कर मेरा मनोरथ पूरा कीजिये। देखिये आपने परमयोगी और तत्वज्ञानी हो कर भी मुझे अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाया है। इसलिये मैं प्रार्थना करती हूँ कि मेरे ऊपर यह अनुग्रह कीजिये।

वृषभवाहन भगवान् शङ्कर प्रिया के इस प्रकार के वचन सुन कर, हँसे और प्रजापति दक्ष ने उस दिन जो मर्मभेदी वचन कहे थे, उन सब को स्मरण करा कर कहने लगे,—

शिवजी—हे शोभने' तुमने कहा कि बन्धु के घर विना बुलाये भी जाना उचित है। किन्तु तुम्हारा यह कहना तभी ठीक हो सकता है जब वह अहङ्कार से उत्पन्न हुए गर्व और क्रोध के वशीभूत हो, बन्धु के दोषों का उद्घाटन न करे। विद्या, तप ऐश्वर्य, सुन्दर देह, यौवन और श्रेष्ठ कुल साधुओं के ये छ सद्-गुण है किन्तु असाधुओं के लिये ये ही छ अवगुण हो जाते है इसीसे वे बडों के तेज को नहीं सह सकते। अपने होने पर भी ऐसे चञ्चलों के घर पर न जाना चाहिये। ऐसे कुटिल लोग अभ्यागतों का

भी निरादर करते है। शत्रु के बाणों से विद्ध शरीर वाला पुरुष चाहे सो कर सकता है किन्तु जो बन्धु के मर्मवेधी वाक्य बाणों से विद्ध हुआ है, उसको कभी चैन नहीं मिलता। हे सुन्दरी! यह मुझे मालूम है कि तुमभी दक्ष की सब से बढ़ कर लड़ैती बेटी हो, पर मेरे साथ तुम्हारा सम्बन्ध रहने से तुम्हारे पिता तुम्हारा आदर कभी नही करेंगे। उनको इसी बातका बड़ा दु ख है कि मेरा तुम्हारे साथ सम्बन्ध क्यों हुआ। निरहङ्कार प्राणियों का ऐश्वर्य देख, वे सदा सन्तापित रहते हैं। जो अज्ञानी होते है वे परस्पर प्रत्युत्थान विनय और प्रणाम किया करते हैं. वे देहाभिमानी को प्रणामादि न कर, वे अपने मन मे हृदयशायी परमपुरुष को प्रणाम कर लिया करते हैं। शुद्ध अन्तःकरण का नाम वसुदेव है। क्योंकि आवरण रहित पुरुष वैसे ही अन्तःकरण में प्रकाशित होता है। इसीसे मैं अधोक्षज वासुदेव ही को अन्त करण से प्रणाम करता हूँ।

हे देवि! दक्ष तुम्हारे शरीरोत्पादक पिता होने पर भी उनका दर्शन करना तुमको उचित नही। उनके मतानुयायी भी तुम्हारे दर्शन के योग्य नही हैं। देखो विश्वश्रष्टा लोगों के यज्ञ में निरपराध ही तुम्हारे पिता ने मुझे दुर्वाक्य कहे। यदि तुम मेरा कहना न मान कर, गयीं तो तुम्हारा कल्याण न होगा। बन्धुओं का अनादर मानों मरण तुल्य है।

यह कह कर शङ्कर चुप हो गये, किन्तु मन में विचारने लगे कि सती को पिता के घर जाने की अनुमति दूँ या न दूँ क्योंकि

उसके शरीर का नाश अनिवार्य है। सती का भी मन डाँवाडोल था। एक ओर तो पति की अनिच्छा दूसरी ओर माता पिता के दर्शनों की उत्कट उत्कण्ठा सती के मन को विकल कर रही थी। सती रो रो कर आँसुओं की धाराओं से भूमि को भिगोने लगी। क्रम से क्रोध उत्पन्न होने के कारण उनका सारा शरीर काँपने लगा। उस समय ऐसा जान पड़ने लगा मानों क्रोधानल से वे शिव जी को भस्म कर देंगी। एक तो स्त्री जाति स्वभाव ही से मन्द बुद्धि होती है दूसरे फिर क्रोध और शोक से उसका चित्त अत्यन्त विचलित हुआ। इस लिये जिस स्वामी ने प्रेमवश अपना अपना आधा शरीर दे दिया था और जिसको वे अत्यन्त प्यार करती थीं उस स्वामी को छोड़ वे पिता के घर चली गयी।

सती को अकेली जाते देख, मणिमान और मद आदि अनेक शिव के गण उनके साथ हो लिये। फिर उन्हें बैल पर चढ़ा, छत्र चमर करते राजोचित सम्मान के साथ बाजे बजाते आगे बढ़े।

धीरे धीरे सती पिता के यज्ञमण्डप में पहुँची। वहाँ चारो ओर विप्रर्षि और वेदविद् पण्डित बैठे हुए थे। यज्ञशाला में यज्ञस्थानीय, मिट्टी काठ, लोहे सुवर्ण, दर्भ और चमड़े के बने हुए पात्रादिक रखे हुए थे। किन्तु जब सती के पिता ही ने उनका अनादर किया तब इतर लोगों को साहस न हुआ कि वे सती का आदर करें। केवल सती की माता और बहिन बड़े प्रेम से उनसे मिलीं, किन्तु पिता का बर्त्ताव देख, भगिनी के कुशल प्रश्नों को सुना भी नहीं और माता एवं मौसियों के दिये हुए उत्तम उत्तम वस्तु और आसनादि भी ग्रहण न किये।

सती ने रुधिर जैसा घूँट पी कर अपना अपमान किसी प्रकार सह लिया। किन्तु जब उन्होंने देखा कि यज्ञ में रुद्र का

भाग कल्पित नही हुआ है, तब तो उनके क्षोभ और दुःख की सीमा न रही। दक्ष शिव से द्रोह करता है और अनेक यज्ञ करने के अभिमान में वह चूर है—यह जान कर शिव के गण उसका नाश करने को उद्यत हुए किन्तु सती ने उनको ऐसा करने से रोक दिया। पर मारे क्रोध के अस्फुट वाक्यों से वे कहने लगीं —

सती—ससार में जिनसे बढ़ कर और कोई श्रेष्ठ नही है, जिनका कोई भी प्रिय अप्रिय नहीं है, इसीसे जिनका कोई विरोधी नही है और जो प्राणीमात्र के हितैषी और प्रिय हैं, हे पिता! आपको छोड़ उनसे कोई भी द्वेष नहीं करता। आपके समान जो लोग गुण को भी दोष समझते हैं, वे अधम हैं, जो लोग यथार्थ दोष गुण का विवेचन करते हैं, वे मध्यम हैं और जो सामान्य गुण कोभी महान समझ कर प्रशंसा करते हैं, वेही सर्वोत्तम हैं। आपने वैसे ही सर्वोत्तम व्यक्ति से द्वेष किया है। अथवा आप जैसे असत् पुरुष वैसे महात्मा की निन्दा करें तो आश्चर्य ही क्या है? आप इस जड शरीर को आत्मा समझते हैं, अतएव महात्मा चाहें न करें, पर उनकी चरण रज ही आप जैसों का तेज नाश करती है। जिनका दो अक्षर का नाम लेने से मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, जिनकी कीर्त्ति अति पवित्र है और जिनका शासन अलङ्घ्य है—उन्हींके साथ आप अशिव हो कर द्वेष करते हैं! क्या आप समझते हैं कि जो अपनी जटाएँ खोले रहते श्मशान की भस्म लगाते, मुण्डमाल धारण करते हैं—वे नाम-

मात्र के शिव है किन्तु वास्तव में वे अशिव हैं? क्या आपकी समझ ब्रह्मादि देवताओं से भी बढी चढ़ी है?

इसके बाद सती ने क्रोध में भर इस अपमान का बदला लेने के लिये अपने शरीर को भस्म करने की बात कही। वे कहने लगीं

सती—उद्दण्ड व्यक्ति यदि धर्म-रक्षक स्वामी की निन्दा करने लगे और निन्दित की स्त्री निन्दक को न मार सकै या स्वयं न मर सके तो वह स्त्री अपने दोनों कानों को ढक कर उस स्थान से अन्यत्र चली जाय। यदि सामर्थ्य हो तो उस दुष्कर्म्मी की जीभ काट ले और पीछे स्वय भी मर जाय। ऐसा करने से साध्वी स्त्री के पातिव्रत्य की रक्षा होती है! हे पिता! आपने मेरा यह शरीर पैदा किया है अतः मै इस शरीर ही को छोड दूंगी। आपने नीलकण्ठ का अपमान किया है, उनको अकारण निन्दा की है, अपने मनोनीत देवों की प्रशसा और उनकी बडाई करने का प्रत्येक को अधिकार है, पर दूसरों के पूज्य देवों की निन्दा करने का उन्हें अधिकार नहीं।

हे ब्रह्मन्! मैं अब यह शरीर इस लिये न रखूंगी कि यह शरीर दूषित है, क्योंकि इसको आपने उत्पन्न किया है। आप भले नहीं हैं। आपके साथ सम्बन्ध रखने मे मुझे लज्जित होना पड़ता है। अत. मेरे इस जन्म को धिक्कार है। भगवान् शङ्कर जब जब मुझे दक्ष-कुमारी कह कर बुलाते हैं, तभी मुझे आपका सम्बन्ध स्मरण हो आता है। अत तुम्हारे शरीर से उत्पन्न मृतक शरीर के समान इस शरीर को मैं यहीं छोड़ दूंगी।

इस प्रकार पिता को फटकार कर सती उसी यज्ञमण्डप में उत्तर को मुख करके चुपचाप बैठ गयी। फिर अपने शरीर को रेशमी वस्त्र से ढक लिया और दोनों नेत्र बन्द कर लिये। अनन्तर जल स्पर्श कर वे ध्यान में मग्न हो गयीं। पहले सती ने आसन ठीक कर, प्राण एवं अपान वायु को रोक कर नाभिचक्र में रखा। फिर उदान वायु के साथ, इन दोनों को हृदय में लाकर बुद्धि के साथ स्थापित किया। पश्चात् कण्ठ मार्ग से उसे वे दोनों भौं के मध्य में ले गयी। महामान्य पूज्यतम लोग आदर पूर्वक जिस शरीर को गोद में लेते हैं दाक्षायणी शिव-पत्नी ने इस समय क्रोधवश उस शरीर को त्याग करने की इच्छा से शरीर में अग्नि और वायु को रोका। फिर वे अपने स्वामी के चरण कमलों का चिन्तवन करने लगी। उस समय उन्हें सिवाय शिव के और कुछ भी नहीं दीखता था। अतएव उनका पापशून्य शरीर भी समाधि के निमित्त जलती हुई आग से जल उठा। यह देख सब लोग हाहाकार करने लगे। सब लोग आपस में कहने लगे —"दक्ष से अपमानित देवादिदेव की पत्नी ने प्राण त्याग दिये। हा! इस प्रजापति की नीचता देखो। यही लोकपाल है! चराचर लोक इसीसे उत्पन्न हुए हैं, किन्तु इन्हींकी सम्मान योग्य दुहिता ने इनही से अपमानित हो प्राण त्याग दिये! यह निष्ठुर ब्रह्मघाती निश्चय ही इस लोक में अयश और परलोक में नरक भोग करेगा। बडे आश्चर्य की बात है, इसकी पुत्री अपमानित हो प्राण त्यागने को उतारू हुई, तो भी इस शिवद्वेषी ने उसे मना न किया।"

सती के इस अत्यन्त आश्चर्य युक्त प्राणत्याग का व्यापार देख लोग विलाप कर रहे थे। इतने में सती के अनुचर अस्त्र शस्त्र उठा दक्ष का नाश करने को वेग से उन पर टूट पडे। यह

देख भगवान् भृगुने उन मंत्रों से दक्षणाग्नि में आहुति दी जिनसे यज्ञ के विघ्नकारियों का नाश होता है। देखते ही देखते अग्नि से ऋभुनामक देव निकले और ब्रह्मतेज से प्रकाशमान हुए। उनके डर से शिव के गण भाग गये।

नारद जी ने यह सारा वृत्तान्त जाकर सती के पति महादेव जी से कहा। सती का शरीर त्यागना और ऋभुद्वारा अपने गणों का भागना सुन शिवजी बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने होंठों को दाँतों से काट, अग्नि के समान दीप्तमान जटा उखाड़ कर पृथिवी पर पटक दी। तत्काल ही उस जटा से बड़े शरीर वाला कपालमाली वीरभद्र उत्पन्न हुआ।

रुद्र की जटा से उत्पन्न वीरभद्र हाथ जोड़ कर महादेव से कहने लगा:—

वीरभद्र—हे शिव ! आज्ञा दीजिये क्या करना होगा ?

महादेव—हे रुद्रवीर ! तुम हमारी सेना के सेनापति बन कर दक्ष को उसके यज्ञ सहित जाकर नष्ट करो। तुम मेरे अंश से उत्पन्न हुए हो, इस लिये ब्रह्म-तेज से तुम्हें भय की सम्भावना नहीं।

महाक्रुद्ध महादेव की ऐसी आज्ञा पाकर वीरभद्र ने उनकी प्रदक्षिणा की। उस समय उसके शरीर में अदमनीय वेग उत्पन्न हुआ। उस समय वह अपने को अत्यन्त बली समझ कर बड़े बड़े बलधारियों का सामना करने योग्य जानने लगा। तदनन्तर वह शिवानुचरों के साथ भयानक गम्भीर शब्द से साक्षात् काल के भी काल त्रिशूल को उठा बड़े वेग से दौड़ा।

उधर पुरोहित, यजमान, सभासद् ब्राह्मण और ब्राह्मणी उत्तर की ओर धूल उड़ती देख विचार करने लगीं कि अचानक यह अन्धकार क्यों छाता जाता है ? नहीं यह "अन्धकार नहीं-यह

ता धूल है। वायु तो वेग से चलता नही फिर यह धूल क्यों उड रही है। राजा प्राचीन बर्हिर्दण्ड हाथ मे ले प्रजापालन करता है। इसलिये चोर डाकुओ को भी सम्भावना नही। न कोई चरवाहा गौओ को लाता हुआ दीख पड़ता है। फिर यह धूल क्यों उठ रही है? क्या संसार का प्रलयकाल तो उपस्थित नही हुआ।"

प्रसूति आदिक स्त्रियॉ कहने लगी — 'प्रजापति दक्ष ने दूसरी कन्याओं के सामने निरपराधिनी सती का अनादर किया था। इतने दिनों बाद कदाचित् उस पाप का फल पका है। जिनके भृकुटी विलास से सारा संसार नष्ट हो जाता है, जिनका तेज कोई भी नही सह सकता उन रुद्र को क्रुद्ध कर निस्तार पाना क्या सहज काम है?"

जिस समय चञ्चल चित्त वाले लोग इस प्रकार परस्पर कहा सुनी कर रहे थे, उस समय पृथिवी और आकाश में बडे बडे भयङ्कर उत्पात उठे जिन्हे देख दक्ष बहुत भयभीत हुए। देखते देखते दक्ष का यज्ञमण्डप, रुद्र की सेना ने घेर लिया। फिर उस यज्ञमण्डप में घुस वे उसकी सुन्दरता को नष्ट भ्रष्ट करने लगे। धीरे धीरे पाकशाला, यजमानगृह, भाण्डारगृह आदि सभी ढा दिये गये। किसीने यज्ञपात्र तोडे, किसी ने यज्ञ की आग बुझा दी, किसीने कुण्ड मे मल मूत्र त्यागा, किसी ने वेदी की मेखला त्याग दी कोई मुनियों के ऊपर झपटा, कोई उनकी स्त्रियों को डराने लगा। रुद्रगणो ने भागते हुओं को भी न छोडा। उन्होंने भागते हुए देवताओ को पकड़ पकड कर बॉध लिया। मणिमान ने भृगु को, वीरभद्र ने दक्ष को, चण्डेश्वर ने पूषा को और नन्दी ने भगदेव को बॉधा। यह देख जो देवता भागे उन्हे रुद्र के अनुचरों ने पत्थर, और ईंटों से घायल किया।

भृगु जी सुवर्ण के पात्र को हाथ में लिये अग्नि में आहुति दे रहे थे, वीरभद्र ने उनकी दाढ़ी नोचनी आरम्भ की, क्योंकि सभा में उन्होंने दाढ़ी फटकार कर हास्य किया था। शिवजी की निन्दा करते समय भगदेवता ने आँख के सैन से दक्ष को उत्साहित किया था, अत वीरभद्र ने उन्हें भूमि पर पटक उनके दोनों नेत्र निकाल लिये। शिव की निन्दा सुन पूषा दाँत निकाल कर हँसा था, अतः वीरभद्र ने पूषा के दाँत उखाड़ लिये, अन्त में वीरभद्र ने दक्ष की छाती पर चढ़ तीक्ष्ण अस्त्र से उनका सिर काटा। किन्तु वार वार आघात करने पर भी दक्ष का सिर न कटा। तब वीरभद्र सोचने लगा। अन्त में उसने यज्ञपशु के वध के समान दक्ष का शिरच्छेदन कर ही तो डाला यह व्यापार देख भूत प्रेत पिशाच गण "धन्य धन्य" कह कर, कोलाहल करने लगे। चारो ओर हाहाकार होने लगा। तब वीरभद्र ने दक्ष के कटे हुए सिर को दक्षिणाग्नि में पटक दिया और इस प्रकार यज्ञ विध्वंस कर वे अपनी सेना सहित कैलास को लौट गये।

ऋत्विक्, सभ्य, और देवता रुद्र के गणों द्वारा घायल हो, उनकी फ़रियाद लेकर ब्रह्मा जी के पास गये और आदि से अन्त तक सारा हाल कह सुनाया। ब्रह्मा और नारायण को यह होन-हार पहले ही से विदित था। इसीसे वे यज्ञ में नहीं गये थे। ब्रह्मा ने कहा:—

ब्रह्मा—बलवान को खिजा कर अथवा अपराध कर, जो लोग उसको हानि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं, उनका कल्याण नहीं होता। तुमने शिव का बड़ा अपकार किया। देखो वे यज्ञांश के भागी हैं, पर तुमने उन्हें उससे भी वञ्चित रखा। अतएव इस समय शुद्ध मन से उनको प्रणाम कर प्रसन्न करो।

था इस ...न बैठे हैं किन्तु उस समय साथ हुए हो
इस लिये उनकी मूर्त्ति शान्ति धारण किये हुए थी।
न्हें माथे पर चन्द्रकला विराजमान थी और सन्ध्या काल के
मेघों के समान उज्ज्वल भस्म उनके अङ्गों में लगा था।
पासही महर्षि नारद बैठे उनसे प्रश्न कर रहे थे और वे ब्रह्मचा
रियों के योग्य कुशासन पर बैठे हुए उनको सनातन ब्रह्म विद्या
का उपदेश दे रहे थे। उन्हें देखते ही मुनियों एवं लोकपालों ने
न्हें प्रणाम किया।